श्री राम ॥ श्री कृष्ण ॥ श्री राम ॥ श्री
कृष्ण ॥ श्री राम ॥ श्री कृष्ण ॥ श्री

मानस एवं गीता का तुलनात्मक विवेचन

१

मानस एवं गीता का तुलनात्मक विवेचन

श्री पं. रामकिंकर उपाध्याय

मानस एवं गीता का तुलनात्मक विवेचन

श्री पं. रामकिंकर उपाध्याय

□ प्रकाशक - तुलसी तत्त्वानुसंधान केन्द्र
४/२७३, रानीघाट (पुराना) कानपुर-२
□ द्वितीय आवृत्ति मार्च १९८२
□ लेखक - श्री रामकिंकर उपाध्याय
□ मुद्रक - प्रीमियर ऑफसेट वर्क्स, इलाहाबाद
□ आवरण एवं सज्जा - इम्पैक्ट, इलाहाबाद
□ ज़िल्द - अग्रवाल बुक बाइन्डर, इलाहाबाद
□ मूल्य - १५ रू०

श्री रामः शरणं मम

जासु नाम भव भेषज हरन घोर त्रयशूल
सो कृपाल मोहि तो पर सदा रहउ अनुकूल

।। निवेदन ।।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम संस्करण का प्रकाशन श्री ताराचन्द जी साबू के सौजन्य और श्रद्धा के फलस्वरूप हुआ था। यह श्री मती कमला देवी साबू के प्रति उनकी प्रीतिपूर्ण श्रद्धाँजलि थी। प्रथम संस्करण का अधिकांश सुधीजनों में वितरित किया गया था। मुझे प्रसन्नता है कि लोगों ने कल्पनातीत उत्साह से इसका स्वागत किया। परिणाम स्वरूप इसका द्वितीय संस्करण तुलसी तत्त्वानुसन्धान केन्द्र के द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है।

इसके प्रकाशन के पूर्व की आकृति देने में जिन लोगों ने अमूल्य सेवाएँ की हैं उन्हे मैं पुनः स्मरण करता हुआ आशीर्वाद देता हूँ। श्री विष्णुकान्त पाण्डेय, श्री श्रीकान्त पाण्डेय और श्री मैथिलीशरण शर्मा इस आर्शीवाद के अधिकारी हैं। द्वितीय संस्करण के प्रकाशन में पूर्ण सहयोग देने के लिये मैं श्री हरीकृष्ण जी महेश्वरी को आशी-र्वाद देता हूँ।

तुलसी तत्त्वानुसंधान केन्द्र के प्रकाशनों में सर्वाधिक उत्साह और परिश्रम श्रीमती शीलाकोचर का रहता है। प्रभु के चरणों में उनकी प्रीति बढ़े यह मेरी मंगलकामना है।

राम किंकर उपाध्याय
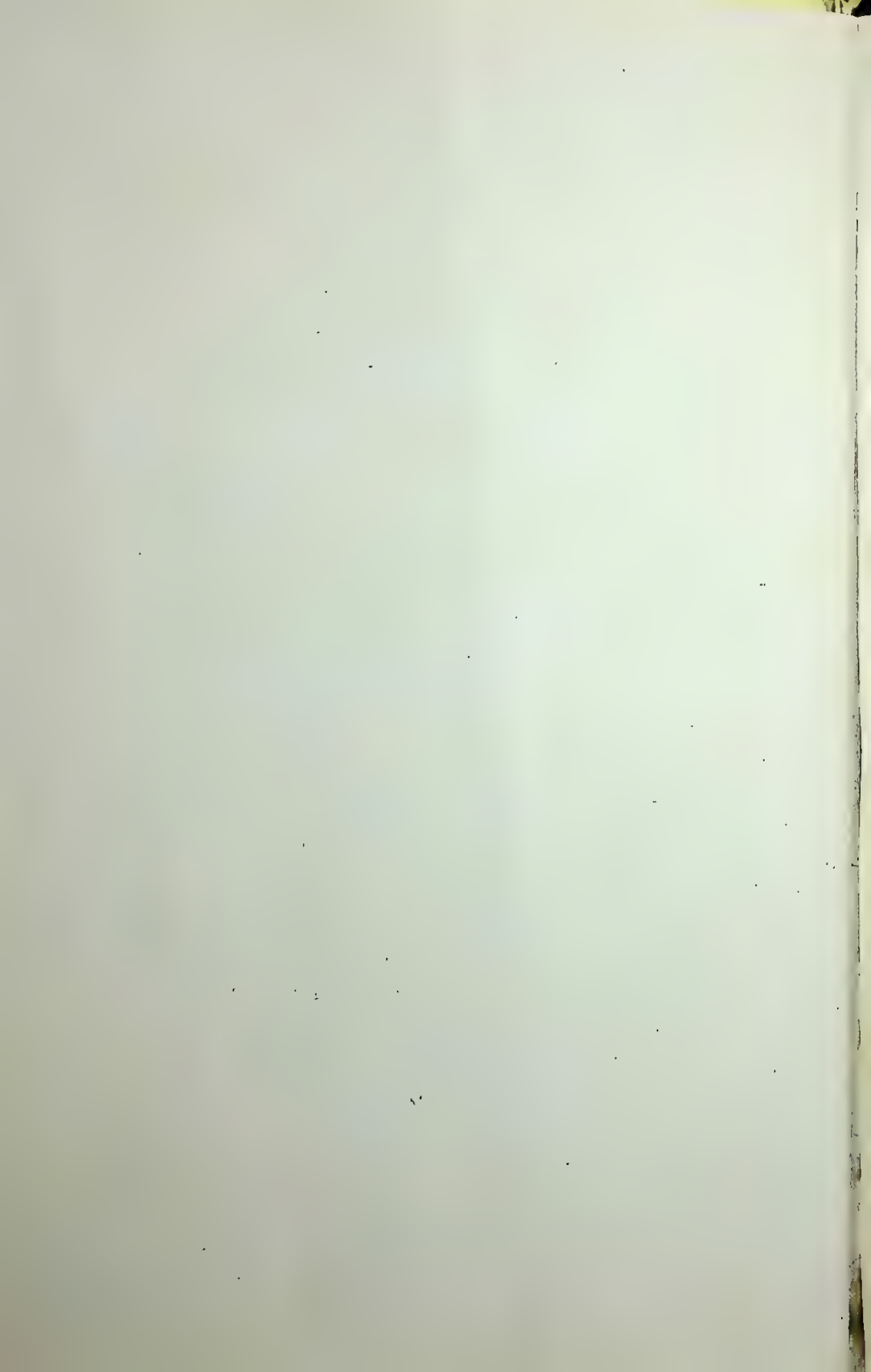
॥ भूमिका ॥

भूमिका प्रारम्भ करते समय मानस संगम द्वारा आयोजित सम्मेलन की स्मृतियाँ मुखर हो उठी हैं। देश विदेश के अनेक विद्वान् और विचारक मञ्च पर उपस्थित थे। उन्होंने जो विचार प्रस्तुत किये, उनमें भिन्नता हो यह स्वाभाविक ही है। श्रोता विविध रसों के रूप में उनका आस्वादन करते हुये आनन्दित हो रहे थे। कुछ भाषणों में कटुतिक्त का आधिक्य था, तो कुछ में मधुरता के बोल थे। फिर भी ऐसा लगा कि कटुतिक्त अधिक मुखर हो उठा है। उसमें आलोचना थी, प्रश्न चिन्ह थे और नैराश्य की अभिव्यक्ति थी। उसमें बढ़ते हुये भ्रष्टाचार पर चिन्ता थी। वे बातें उपयोगी और युक्ति संगत थीं। फिर भी मुझे लगा कि जीवन को देखने की यह दृष्टि अधूरी है। घोर निराशा उसी का परिणाम है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि हम विरोधाभासों से ग्रस्त हैं। एक ओर सन्त हैं, विचारक और प्रचारक हैं और उनके विचार सुनने के लिये भीड़ उमड़ पड़ती है। धार्मिक ग्रन्थों का प्रकाशन और उसके पाठकों की संख्या भी कम नहीं है। पर इसका दूसरा पक्ष भी है। जीवन और व्यवहार में अनैतिकता की वृद्धि हो रही है। समाज संघर्ष से संत्रस्त है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि क्या इन ग्रन्थों और महापुरुषों की कोई सार्थकता है ? इस उमड़ती हुई भीड़ का कोई मूल्य है ? झुंझलाहट भरे स्वर में बोल उठते हैं यह सब कुछ व्यर्थ है बकवास है। पर मुझे यह यथार्थ नहीं प्रतीत होता। कभी-कभी मेरे मन में यह प्रश्न भी उठता है कि यह भ्रष्टाचार के प्रति हमारा आक्रोश यथार्थ भी है या नहीं ? राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक मञ्चों से आक्रोश प्रगट करने वाले महानुभाव क्या सचमुच ही उतने व्यथित या चिन्तित हैं जितने वे मञ्च पर भाषणों के माध्यम से प्रतीत होते हैं ? वस्तुतः यह आक्रोश बौद्धिक ही होता है, जो बहुधा सभा मञ्च पर ही अधिक मुखर होता है। पर जिनमें यह आक्रोश यथार्थ है वे क्या करें ? मैं चाहता हूँ कि ऐसे महानुभाव पौराणिक काल की धारणा के सत्य को भी सामने रखें।

प्रतिक्षण परिवर्तित होने वाले काल में एकरसता की आशा करना व्यर्थ है। कोई भी मनःस्थिति या परिस्थिति भले ही वह हमें कितनी भी

□

प्रिय क्यों न हो स्थिर नहीं रहती। यद्यपि उसे स्थिर रखने की आकांक्षा और प्रयत्न सर्वथा मानवोचित हैं। वस्तुतः कालगत सत्य और मानवीय प्रयत्नों के बीच एक विचित्र विरोधाभास है। अनादि काल से अगणित प्रयत्नों के बाद भी मानवीय समस्याओं का कोई शाश्वत समाधान, जो सर्वथा मनःस्थितियों और परिस्थितियों को अपरिवर्तित रख सके, प्राप्त नहीं हुआ। इससे व्यक्ति में कभी-कभी घोर नैराश्य का जन्म होता है, उसे लगने लगता है, क्या मूल्य है इन मानवीय प्रयत्नों का। इसलिये प्राचीन परम्परा में ऐसे मनीषियों की कमी नहीं रही है जो इसे असमाधेय मानकर इससे पूरी तरह उदासीन हो जाते हैं। वैराग्य की यह परम्परा बड़ी पुरानी है। ऋषभदेव और जड़भरत जैसे महापुरुष बहिरंग विश्व से उदासीन होकर अपने आत्म स्वरूप में स्थित हो जाते हैं। कुछ लोगों को उसमें पलायनवादी वृत्ति का साक्षात्कार होता है, वे अनवरत प्रयत्न और पुरुषार्थ पर विश्वास रखते हैं। **श्रीमद्भगवद् गीता** और **श्री रामचरितमानस** में इन दोनों के सामञ्जस्य का प्रयास दृष्टिगोचर होता है। इस दिशा में इनमें प्रगट किये गये विचार सामाजिक दृष्टि से बड़े स्वस्थ और संतुलित हैं। इस प्रसंग में जीवन और मृत्यु के सम्बन्ध में एक चिकित्सक की दृष्टि को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। रोग के विरुद्ध औषधियों के माध्यम से वह व्यक्ति के अंतिम क्षण तक प्रयत्नशील रहता है। कई बार ऐसा प्रतीत होता है कि उसने व्यक्ति को मृत्यु के मुख से उबार लिया। रोगी और उसके परिवार के सदस्य वैद्य के प्रति कृतज्ञ होते हैं। पर एक क्षण ऐसा आता है जब चिकित्सक के सारे प्रयत्न व्यर्थ हो जाते हैं और तब उसे जीवन के उस छोर का साक्षात्कार होता है जिसे हम मृत्यु के रूप में जानते हैं, जिसे टाला नहीं जा सकता। चिकित्सक को इस कटु सत्य का साक्षात्कार करने के लिये भी प्रस्तुत रहना चाहिये। किन्तु मृत्यु का यह सत्य उसे अपने प्रयत्न से विमुख न कर दे तभी वह संतुलित व्यक्ति कहा जा सकता है। **गीता** और **रामायण** में यही दृष्टिकोण विद्यमान है।

मानस में लक्ष्मण जी की पुरुषार्थ प्रेरक वाणी विद्यमान है, वे 'दैव या नियति' के समक्ष सिर झुकाने के लिये प्रस्तुत नहीं हैं। वे दैव और नियति की बातों को आलस्य तथा कायरता का प्रतीक मानते हैं—

मंत्र न यह लछिमन मन भावा।
राम बचन सुनि अति दुःख पावा॥
नाथ दैव कर कवन भरोसा।
सोषिअ सिंधु करिअ मन रोषा॥
कादर मन कहुँ एक अधारा।
दैव दैव आलसी पुकारा॥ ५।५०।२।

भगवान् राम लक्ष्मण की इस ओजस्वी वाणी से आनन्दित होते हैं। फिर भी वे दैव को सर्वथा अस्वीकार करने के लिये प्रस्तुत नहीं होते। इस विषय में वे अपना दृष्टिकोण पहले ही प्रगट कर चुके हैं। वे प्रयत्न के साथ दैव को जोड़े बगैर नहीं रहते—

सखा कही तुम नीकि उपाई।
करिअ दैव जौं होइ सहाई॥५।५०।१।

वे लक्ष्मण के अग्रज के साथ-साथ गुरु वशिष्ठ के शिष्य भी तो थे। ब्रह्मर्षि वशिष्ठ एक ऐसे महापुरुष के रूप में प्रतिष्ठित थे जिनके विषय में यह प्रसिद्ध था कि उनके लिये कुछ भी अशक्य नहीं था। बहुधा लोगों को ऐसा प्रतीत हुआ कि वे विधि-व्यवस्था को भी परिवर्तित करने में समर्थ हैं। उनकी स्तुति इन शब्दों में की गई—

सो गोसाईं बिधि गति जेहिं छेंकी।
सकइ को टारि टेक जो टेकी॥

उनके विषय में लोगों की चाहे कैसी भी धारणा क्यों न रही हो, पर ब्रह्मर्षि विनम्रता पूर्वक उसे अस्वीकार करते हुये दिखाई देते हैं। वे विधि की अनिवार्यता का प्रतिपादन करते हैं। अन्ततोगत्वा अयोध्या में विपत्ति के जो बादल उमड़ आये थे उसे रोक पाने में वे स्वयं को समर्थ नहीं पाते। जब महाराज श्री दशरथ ने उनसे रामभद्र के राज्याभिषेक के संदर्भ में प्रश्न किया तब वे उत्साहित होकर बोल पड़े—

बेगि बिलंबु न करिअ नृप साजिअ सबइ समाज।
सुदिन सुमंगल तबहिं जब राम होहिं जुबराज॥

किन्तु यह कैसी विधि विडम्बना थी कि उनका यह उतावला प्रयास ही अनर्थों का हेतु बन बैठा। यदि राज्याभिषेक की घड़ी में इतनी शीघ्रता न की जाती तो उस प्रतिक्रिया का प्रश्न ही न उठता जो मन्थरा और

□

कैकेई के मन में उत्पन्न हुआ, जिसका अन्तिम परिणाम राम के बन गमन और महाराज श्रीदशरथ की मृत्यु के रूप में हुआ। भरत को यह आश्चर्य था कि गुरु वशिष्ठ जैसे महापुरुष के रहते हुये भी इतने बड़े अनर्थ की सृष्टि कैसे हुई, ब्रह्मर्षि निःसंकोच भाव से उनके समक्ष विधि की अनिवार्यता का प्रतिपादन करते हैं—

सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनि नाथ।
हानि लाभ जीवनु मरन जस अपजस बिधि हाथ॥

भरत इस अनिवार्यता को स्वीकार करते हुये भी राम राज्य की स्थापना के प्रयास से विरत नहीं होते। वे अयोध्या के सारे समाज को लेकर चित्रकूट की यात्रा करते हैं, राम को लौटाने में उन्हें तत्काल सफलता प्राप्त नहीं होती है पर चौदह वर्ष के अन्तराल के पश्चात् उनका संकल्प साकार होता है। इस तरह प्रयत्न और काल की अनिवार्यता के सिद्धान्त का सामञ्जस्य मानस में दृष्टिगोचर होता है।

महाभारत में भी काल की अनिवार्यता का प्रतिपादन बार-बार किया गया है। काल की इस अनिवार्यता के प्रतिपादन से मनुष्य के अन्तःकरण में निरुपायता का बोध होता है, लगता है कि व्यक्ति के सारे प्रयत्न व्यर्थ हैं। कभी-कभी यह प्रश्न उठना भी स्वाभाविक ही है। क्या यह काल ईश्वर का प्रतिद्वन्द्वी है, जो ईश्वर की सृष्टि को अपनी इच्छा के अनुरूप चलाने की चेष्टा करता है ? क्या उसकी यथेच्छाचारिता को रोकने की क्षमता ईश्वर में नहीं है ? अन्य कुछ धर्मों में ईश्वर के एक **प्रतिद्वन्द्वी** की कल्पना की गई जिसे बहुधा शैतान का नाम दिया गया है, जो व्यक्ति को अपनी दिशा में प्रेरित करता है। दूसरी ओर ईश्वर के दूत उसे सन्मार्ग की दिशा में प्रेरित करते हैं। यह प्रतिद्वन्द्विता शाश्वत है, एक स्तर में हिन्दू धर्म ने भी इसे स्वीकार किया है। गीता में अर्जुन के द्वारा यह पूछे जाने पर कि 'न चाहते हुये भी व्यक्ति पाप की ओर क्यों प्रवृत्त होता है' ऐसा लगता है कि जैसे कोई बलपूर्वक पाप की दिशा में ले जाने की चेष्टा करता है—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥गीता।३।३६।

भगवान् श्रीकृष्ण इसका उत्तर देते हुये कहते हैं कि अर्जुन, ये काम और क्रोध हैं, जो व्यक्ति को पाप की दिशा में ले जाते हैं। ये व्यक्ति के महाशत्रु हैं और इनका वध किया जाना चाहिये—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ।। गीता।३।३७।

किन्तु एक स्तर ऐसा आता है जहाँ वे यह कहते हैं कि ईश्वर ही सबकी अंतरात्मा में बैठा हुआ उन्हें कठपुतली की तरह नचा रहा है—

ईश्वरः सर्वभूतानाम् हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया ।।

इन दोनों प्रकार की विचारधाराओं में परस्पर विसंगति सी प्रतीत होती है, पर भिन्न स्तरों पर विचार करने पर इस विरोधाभास का सामञ्जस्य मिल जाता है। इसे रंगमच पर प्रयुक्त किये जाने वाले नाटक के माध्यम से हृदयंगम किया जा सकता है। नाट्य मंच पर नायक और खल नायक परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं और दर्शक के लिये इस विरोध को वास्तविक माने बिना नाट्य रस की अनुभूति नहीं हो सकती, पर नाट्य मञ्च के पीछे का सत्य इससे भिन्न है। वहाँ देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि नायक और खल-नायक उसकी इच्छा के द्वारा ही संचालित होते हैं। जीवन और व्यवहार का सत्य तो नाट्य शाला का ही सत्य है, किन्तु जो व्यवहार जगत् से ऊपर उठकर विचार और मुक्ति में जीवन की सार्थकता मानते हैं, वे पर्दे की आड़ में छिपे हुये सूत्रधार की ओर दृष्टि डालते हैं। इससे उनका अन्तःकरण राग द्वेष से मुक्त हो जाता है। किन्तु यह विचार जगत् की व्यक्तिगत अनुभूति के रूप में ही देखा जाना चाहिये। व्यवहार में इसकी स्वीकृति जटिलताओं की सृष्टि करती है। **महाभारत** और **गीता** में भी भगवान् दो भिन्न भूमिकाओं में दिखाई देते हैं। एक ओर वे कर्तव्याकर्तव्य का निरूपण करते हैं, व्यक्ति को पाप के विरुद्ध संघर्ष की प्रेरणा देते हैं। स्वयं दूत के रूप में पापमय दुर्योधन को युद्ध से विरत होने का उपदेश देते हैं। पर दूसरी ओर वे अर्जुन के समक्ष अपने विराट् रूप को प्रगट करते हुये अपना परिचय काल के रूप में देते हैं और वे यह स्वीकार करते हैं कि वे काल के रूप में सबका संहार करने पर तुले हुये हैं—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ।।
गीता ।११।३२।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ।।
गीता।११।३३।

□

यहाँ काल ईश्वर का प्रतिद्वन्द्वी नहीं है, वह तो स्वयं ईश्वर ही है। जहाँ प्रयत्न करते हुये हमें श्रीकृष्ण के उपदेशों से प्रेरणा लेनी चाहिये वहीं प्रयत्न की असफलता में हमें काल रूप ईश्वर का साक्षात्कार करना चाहिये। इसे जीवन और मृत्यु के दो छोरों के रूप में देखा जा सकता है। कर्तव्य और निर्माण में व्यक्ति की प्रवृत्ति तभी हो सकती है, जब वह जीवन की चैतन्यता और नित्यता पर विश्वास करे। इसीलिये यह कहा जाता है कि विद्या और अर्थ के संदर्भ में व्यक्ति को प्रयत्न स्वयं को अजर अमर मानकर करना चाहिये। फिर भी जीवन का दूसरा छोर उससे कम सत्य नहीं है। मृत्यु अनिवार्य और अपरिहार्य है। मृत्यु के क्षणों में अनित्यता का बोध ही व्यक्ति के अन्तःकरण को प्रशान्त बना सकता है। पर उचित अवसर पर इन दोनों विरोधी प्रवृत्तियों की सार्थकता है।

जीवन के परस्पर प्रतिकूल प्रतीत होने वाले सत्यों का साक्षात्कार परीक्षित के जीवन में किया जा सकता है। महाराज परीक्षित श्रीमद्भागवत और महाभारत के प्रसिद्ध पात्र हैं। उन्हें धर्मराज युधिष्ठिर ने अपने सिंहासन पर प्रतिष्ठापित किया था। एक सुयोग्य शासक के रूप में उन्होंने बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त की, पर इस बीच काल संकट की समस्या प्रतीकात्मक रूप में उनके सामने आ खड़ी हुई। महाराज युधिष्ठिर की ही भाँति उन्होंने भी राज्य के सुसञ्चालन का प्रयास किया। उनके राज्य में भी युधिष्ठिर के शासन काल की भाँति प्रजा सन्तुष्ट प्रतीत हो रही थी, किन्तु इस बीच प्रकृति विपर्यय के कुछ समाचार उन्हें प्राप्त हुये। उन्हें युग परिवर्तन की सूचना मिली। उन्हें यह ज्ञात हुआ कि अब द्वापर युग समाप्त होकर कलियुग का प्रवेश हो चुका है। समाज में जिन विकृतियों का उदय हो रहा है, वह काल प्रक्रिया का ही एक अंग है, पर वे इसे चुपचाप स्वीकार करने की मनःस्थिति में नहीं थे। उन्होंने युग चक्र को रोकने की चेष्टा की। वे कलियुग के दमन के लिये प्रस्थान करते हैं और तब उनके समक्ष एक भिन्न दृश्य आता है।

एक बैल चार पैरों के स्थान पर केवल एक ही पैर से खड़ा था और उसके पास एक आंसू बहाती हुई गाय थी जो व्यथा की मूर्ति प्रतीत हो रही थी। सामने एक क्रूर व्यक्ति खड़ा था जो इन दोनों पर प्रहार कर रहा था। महाराज परीक्षित ने उनका परिचय प्राप्त करने की चेष्टा

की और तब उन्हें ज्ञात हुआ कि वे तीनों धर्म, पृथ्वी और कलि के प्रतीक हैं। कलियुग के द्वारा धर्म और पृथ्वी को विनष्ट करने की चेष्टा की जा रही है। तेजस्वी परीक्षित ने कलि को दण्ड देने का निश्चय किया। उनके पौरुष और पराक्रम के समक्ष युग अपने को असमर्थ पाता है और अपनी हार स्वीकार कर लेता है। उसने यह वचन दिया कि परीक्षित के राज्य में वह अपनी चेष्टाओं का विस्तार नहीं करेगा, किन्तु सफलता के इन क्षणों में ही विफलता की भूमिका भी बन गई। युग उनसे रहने के लिये कुछ स्थानों की याचना करता है। वे उसे रहने के लिये जो स्थान देते हैं, उनमें से एक स्वर्ण भी था। सिर पर स्वर्ण मुकुट धारण करने वाले परीक्षित यह कल्पना भी नहीं कर पाये कि डरा हुआ कलि उनके मस्तिष्क पर भी अधिकार कर सकता है, पर यही हुआ। परीक्षित कुछ क्षणों के लिये उस विकृति से स्वयं ग्रस्त हो गये जिसे विनष्ट करने पर वे तुले हुये थे।

परीक्षित को प्यास लगी हुई थी और वे आश्रम में समाधिस्थ ऋषि से जल की याचना करते हैं। अन्तर्लीन ऋषि को परीक्षित का स्वर सुनाई नहीं देता है और वे यह मान लेते हैं कि ऋषि वस्तुतः पाखण्डी है तथा जानबूझ कर उनकी अवहेलना कर रहा है। ऋषि से अपने कल्पित अपमान का बदला लेने के लिये वे एक मरा हुआ साँप उस समाधिस्थ ऋषि के गले में डाल देते हैं। आश्रम से लौटकर जब वे अपना मुकुट उतारते हैं, तब अचानक उन्हें अपनी भूल का भान होता है। वे पश्चात्ताप करते हैं किन्तु तब तक विलम्ब हो चुका था और अपने पिता के अपमान से क्षुब्ध ऋषिपुत्र ने उन्हें शाप दे दिया था कि सातवें दिन सर्प के डसते ही परीक्षित की मृत्यु हो जायेगी। काल की अपरिहार्यता पुनः सामने आ गई। फिर भी इस अपरिहार्यता पर परीक्षित दो भिन्न पद्धतियों से विजय प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं।

महाभारत और **श्रीमद्भागवत** में इन्हीं दो भिन्न पद्धतियों का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। एक उपाय तो आधिभौतिक था, जिसका संकेत **महाभारत** में किया गया है। एक ओर महाराजा परीक्षित सुरक्षा का ऐसा प्रबन्ध करते हैं कि जिससे सर्प भीतर प्रविष्ट होकर उन्हें डस न सके। किन्तु अन्त में सारे आधिभौतिक प्रयत्न भी मिलकर मृत्यु को रोक नहीं पाते। लगता है कि काल के समक्ष व्यक्ति के सारे प्रयत्न व्यर्थ हो जाते हैं। किन्तु इसका दूसरा पक्ष भी है, जिसका परिचय हमें **श्रीमद्-**

भागवत में प्राप्त होता है। **श्रीमद्भागवत** के परीक्षित मृत्यु की अपरिहार्यता को अस्वीकार नहीं करते। पर काल को वे दूसरी ही पद्धति से पराजित करने में समर्थ होते हैं। स्वीकार करते हुये भी वे स्वयं को उस मृत्यु भय से मुक्त कर लेते हैं जिससे आक्रान्त होकर व्यक्ति मृत्यु की विभीषिका से भागने की चेष्टा करता है। वे वीतराग महामुनि शुकदेव के द्वारा **श्रीमद्भागवत** की कथा का श्रवण करते हुये वह दिव्य तत्वज्ञान प्राप्त कर लेते हैं जिससे उन्हें स्वयं की आत्मरूपता का बोध होता है। शरीर के मिट जाने पर भी वे आत्म रूप में नित्य हैं, उन्हें मृत्यु से कोई भय नहीं है। इस तरह इस आध्यात्मिक उपाय के द्वारा वे काल पर विजय प्राप्त करने में समर्थ होते हैं।

महाभारत में वर्णित भौतिक उपाय मानवीय प्रकृति के अंग हैं, वह प्रयत्न प्रत्येक व्यक्ति स्वभाव से ही करता हुआ दिखाई देता है। ऐसा उसके पुरुषार्थ के अनुरूप भी है। फिर भी जीवन की समग्रता अध्यात्म की उस अनुभूति में है जिसका अनुभव **श्रीमद्भागवत** के परीक्षित को होता है। एक महापुरुष के रूप में परीक्षित ने सारे समाज को युग चक्र से बचाना चाहा था। यह तो संभव न हो सका पर वे स्वयं अपने आत्म रूप में प्रतिष्ठित होने में अवश्य सफल हो जाते हैं। आज हम भी युग चक्र की उसी विभीषिका को भोग रहे हैं। उस पर विजय प्राप्त करने की चेष्टा भी चल रही है। पर लगता है कि प्रत्येक आदर्शवादी व्यक्ति भी परीक्षित की भाँति कहीं न कहीं अभिशप्त हो चुका है। युग उसके जीवन के किसी कोने पर अधिकार किये बैठा है। यदि समस्त प्रयासों के होते हुये भी इसमें सफलता प्राप्त नहीं होती है तो व्यक्ति को आध्यात्मिक विवेक का आश्रय लेते हुये स्वयं को उस आतंक से मुक्त कर लेना चाहिये जिससे अनेक विचारक कहे जाने वाले महानुभाव भी ग्रस्त दिखाई देते हैं। **गीता** और **रामचरितमानस** नियति और प्रयत्न के इन दोनों छोरों में सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा करते हैं।

—लेखक

अनगिनत धर्मग्रन्थों के होते हुए भी आधुनिक हिन्दू समाज में जिन दो ग्रन्थों को सर्वाधिक महत्व प्राप्त है वे हैं—गीता और रामायण। इन दोनों ग्रन्थों की असाधारण लोकप्रियता का रहस्य है इनकी सार्वजनीनता। हिन्दू धर्म अगणित सम्प्रदायों में बँटा हुआ है। उनकी आस्था के ग्रन्थ भी अलग-अलग हैं। उन पुस्तकों में अनेक उदात्त सिद्धान्त हैं, पर उनमें आग्रह की तीव्रता है। गीता और रामचरित मानस में जीवन के प्रति उदार और व्यापक दृष्टिकोण है, इसलिए वह किसी वर्ग विशेष का ग्रन्थ न होकर सारी मानव जाति के लिए उपयोगी है। गीता और मानस की इसी विलक्षणता के कारण विभिन्न सम्प्रदाय के लोग उसकी व्याख्या अपनी साम्प्रदायिक मान्यता के अनुकूल करने की चेष्टा करते रहे हैं। उन्हें सभी अपना कहकर गौरवान्वित होना चाहते हैं। कभी-कभी यह प्रश्न किया जाता है कि इन दोनों ग्रन्थों की विचारधारा में सर्वथा साम्य है, या इनकी दृष्टि में भी कोई भिन्नता विद्यमान है? अधिकांश विचारकों ने उनके साम्य पर बल दिया है और यह है भी यथार्थ। फिर भी इस प्रश्न पर अधिक व्यापक दृष्टि से विचार की आवश्यकता है। यदि किन्हीं प्रश्नों पर दोनों में भिन्नता विद्यमान है तो उसके पीछे क्या कारण है? वर्तमान युग के संदर्भ में इन विचारों की क्या उपयोगिता है, उन्हें हम किस रूप में ग्रहण कर सकते हैं, इस जिज्ञासा ने ही दोनों ग्रन्थों की तुलनात्मक अध्ययन की प्रेरणा प्रदान की है। इस प्रश्न पर न केवल दोनों ग्रन्थों के सिद्धान्तों को दृष्टिगत रखकर विचार करना है अपितु इन दोनों के काल परिवेश की भिन्नता को भी सामने रखना होगा तभी इन दोनों ग्रन्थों के साम्य और पार्थक्य को अधिक अच्छी तरह हृदयंगम किया जा सकता है।

हमारे देश और संस्कृति के प्रतिनिधि ग्रन्थ के साथ-साथ गीता और मानस हमारे उन दो अवतारों से भी सम्बद्ध हैं जिन्हें अधिकांश हिन्दू "पूर्णावतार" मानते हैं। वे हैं श्रीराम और श्रीकृष्ण। असंख्य अवतारों में इन्हीं दोनों के रूप रंग का ऐसा वर्णन किया गया है कि यदि वेश मात्र परिवर्तित कर दिया जाय तो राम, कृष्ण हो सकते हैं और कृष्ण राम। प्रसिद्ध गाथा है जब तुलसीदास की प्रार्थना पर कृष्ण वंशी का परित्याग

कर धनुषबाण धारण कर लेते हैं। भक्त ने बस अनुरोध भी इतना ही किया था—"धनुष बाण ल्यो हाथ" क्योंकि उसे पता था कि अन्तर तो वंशी और धनुष का है। "वय बपु बरण रूप सोइ आली" की बात यहाँ भी पूरी तरह चरितार्थ है।

तात्विक दृष्टि से एक ही ब्रह्म श्री राम और श्री कृष्ण के रूप में अवतरित होता है। भावनात्मक दृष्टि से दोनों के साम्य पर बहुत कुछ कहा गया है। नन्ददास तो प्रातः काल दोनों का स्मरण करने की प्रेरणा देते हैं।

राम कृष्ण कहिये उठि भोर।
अवध ईस वे धनुष धरे हैं, यह ब्रज माखन चोर॥
उनके छत्र चंवर सिंहासन, भरत सत्रुहन लछिमन जोर।
इनके लकुट मुकुट पीताम्बर, नित गायन संग नन्द किसोर॥
उन सागर में सिला तराई, इन राख्यो गिरि नख की कोर।
नंददास प्रभु सब तजि भजिए, जैसे निरखत चंद चकोर॥

इन दोनों अवतारों में जहाँ इतना साम्य है, वहाँ जीवन की दृष्टि से दोनों में भिन्नता भी कम नहीं है। गीता और मानस के तुलनात्मक अध्ययन के लिए दोनों के तात्विक और भावनात्मक एकत्व के साथ-साथ जीवन दर्शन की इस भिन्नता को भी दृष्टिगत रखकर विचार करना होगा। श्री रामचरित मानस में जहाँ भगवान श्रीराम का पूरा चरित्र चित्रित किया गया है वहाँ गीता में श्रीकृष्ण का चरित्र न होकर उनके विचारों का दर्शन होता है। उनके चरित्र का अध्ययन करने के लिए हमें महाभारत, श्रीमद्भागवत, हरिवंश आदि ग्रन्थों का आश्रय लेना होगा। गीता की पृष्ठभूमि क्या है?

कौरव और पाण्डव कुरुक्षेत्र में शस्त्र सन्नद्ध होकर युद्ध के लिए प्रस्तुत हैं। इस युद्ध में श्रीकृष्ण की भूमिका बड़ी विलक्षण है। यह युद्ध भगवान राम और रावण के युद्ध से भिन्न प्रकार का है। रामायण के युद्ध में राम और रावण का एक दूसरे के विरुद्ध सीधा संघर्ष है। पर महाभारत का युद्ध कौरव और पाण्डवों का युद्ध है। और उस युद्ध में बहिरंग दृष्टि से श्रीकृष्ण की भूमिका तटस्थता के निकट दिखाई देती है। क्योंकि इस युद्ध में उनकी सेना कौरवों की ओर से लड़ रही थी। और वे पाण्डवों की ओर से रणक्षेत्र में भाग लेने पर भी शस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा कर चुके हैं।

उनका कार्य अर्जुन का रथ चलाना भर है। यद्यपि अन्तरंग दृष्टि से सारा युद्ध वही लड़ रहे हैं। इस विरोधाभासी तथ्य के भौतिक और आध्यात्मिक पक्षों को भली प्रकार समझ लिया जाना चाहिए।

ऐतिहासिक दृष्टि से कौरव और पाण्डव एक ही परिवार के सदस्य हैं। इस दृष्टि से श्रीकृष्ण का उन दोनों से समान सम्बन्ध है। फिर भी उनका आन्तरिक लगाव पाण्डवों से अधिक है, विशेष रूप से पाण्डवों में भी अर्जुन उनके अभिन्न मित्र हैं। पर यह श्रीकृष्ण की व्यक्तिगत प्रियता से सम्बद्ध था। यदुवंशी इस प्रश्न पर विभाजित थे। और ऐसा लगता है कि श्रीकृष्ण इस प्रश्न पर अल्पमत में थे। यदुवंशियों की तो बात ही क्या, उनके बड़े भाई बलराम भी इस सम्बन्ध में कृष्ण से भिन्न मत रखते थे।

अज्ञातवास से लौटने के पश्चात् पाण्डवों के समक्ष यह प्रश्न था कि राज्य वापस लेने के लिए कौरवों के साथ कैसा व्यवहार किया जाय? उस समय इस प्रश्न पर विचार करने के लिए जो लोग एकत्र हुए थे उनमें श्रीकृष्ण और बलराम भी थे। श्रीकृष्ण की पूर्ण सहानुभूति पाण्डवों के साथ थी। किन्तु बलराम का मत इससे भिन्न था। वे यह तो चाहते थे कि राज्य पाण्डवों को वापस मिले, पर इसके लिए उनकी दृष्टि में दुर्योधन से नम्रतापूर्वक व्यवहार किया जाना चाहिए। अन्य लोगों की भाँति वे केवल कौरवों को ही दोषी नहीं स्वीकार करते थे। उनका दृढ़ मत था कि इस दुर्घटना में युधिष्ठिर का भी कम दोष नहीं है। महाभारत में इसका वर्णन इस रूप में किया गया है—

सर्वास्ववस्थासु च ते न कोप्या,
ग्रस्तो हि सोऽर्थो बलसाश्रितैस्तैः।
प्रियाभ्युपेतस्य युधिष्ठिरस्य,
द्यूते प्रसक्तस्य हृतं च राज्यम्॥
निवार्यमाणश्च कुरुप्रवीरः,
सर्वैः सुहृद्भिर्ह्ययमप्यतज्ज्ञः।
स दीव्यमानः प्रतिदीव्य चैनं,
गान्धारराजस्य सुतं मताक्षम्॥
हित्वा हि कर्णं च सुयोधनं च,
समाह्वयद् देवितु माजमीढः।

दुरोदरास्तत्र सहस्रशोऽन्ये,
युधिष्ठिरो यान विषहेत जेतुम् ।।
उत्सृज्य तान् सौबलमेव चायं,
समाह्वयत् तेन जितोऽक्षवत्याम् ।
स दीव्यमानः प्रतिदेवनेन,
अक्षेषु नित्यं तु पराङ्मुखेषु ।।
सं रम्भमाणो विजितः प्रसह्य,
तत्रापराधः शकुनेर्न कश्चित् ।

अर्थात्—किसी भी दशा में कौरवों को उत्तेजित या कुपित नहीं करना चाहिए, क्योंकि उन्होंने बलवान होकर ही पाण्डवों के राज्य पर अधिकार पाया है (युधिष्ठिर भी सर्वथा निर्दोष नहीं हैं क्योंकि) ये जुएँ को प्रिय मानकर उसमें आसक्त हो गए थे। तभी इनके राज्य का अपहरण हुआ है। अजमीढ़ वंशी कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर जुएँ का खेल नहीं जानते थे। इसलिए समस्त सुहृदों ने उन्हें मना किया था। (परन्तु इन्होंने किसी की बात नहीं मानी) दूसरी ओर गान्धारराज का पुत्र शकुनि जुएँ के खेल में निपुण था। यह जानते हुए भी ये उसी के साथ बार-बार खेलते रहे। इन्होंने कर्ण और दुर्योधन को छोड़कर शकुनि को ही अपने साथ जुआँ खेलने के लिए ललकारा था। उस सभा में दूसरे भी हजारों जुआँरी मौजूद थे जिन्हें युधिष्ठिर जीत सकते थे। परन्तु उन सबों को छोड़कर इन्होंने सुबलपुत्र को ही बुलाया। इसीलिए उस जुएँ में इनकी हार हुई। जब ये खेलने लगे और प्रतिपक्ष की ओर से फेंके हुए पाँसे बराबर इनके प्रतिकूल पड़ने लगे तब ये और रोषावेश में आकर खेलने लगे। इन्होंने हठपूर्वक खेल जारी रखा और अपने को हराया, इसमें शकुनि का कोई अपराध नहीं है।

इसके पश्चात् बलराम इस युद्ध से दूर तीर्थयात्रा के लिए चले जाते हैं। वे इस संघर्ष में उलझना नहीं चाहते थे! श्री कृष्ण ने भी इस दिशा में बड़ी व्यवहारिक चतुराई से कार्य लिया। दुर्योधन और अर्जुन में सहायता का विभाजन करते हुए जब उन्होंने एक अक्षौहिणी सेना दुर्योधन को दे दी और स्वयं अर्जुन के साथ रहकर भी निरस्त्र रहने की प्रतिज्ञा की तब वे केवल तत्कालीन परम्परा का ही पालन नहीं कर रहे थे, वस्तुतः उन्होंने इस प्रश्न पर यदुवंशियों की फूट को दृष्टिगत रखकर ही ऐसा निर्णय किया था। यह वे लोग थे जो कौरवों से हार्दिक सहानु-

भूति रखते थे अतः वे स्वेच्छा से या कृष्ण की अवज्ञा करके दुर्योधन की ओर से लड़ने का निर्णय करें इससे यही अच्छा था कि उन्हें अपनी ओर से अनुमति प्रदान कर दी जाय। इससे यदुवंशियों में वाह्य एकता बनी रही। उस परिस्थिति में इसका भी महत्व था और यदुवंशियों का विनाश कुछ समय के लिए टल गया। यद्यपि भीतर-भीतर यह आग सुलगती रही और यदुवंशियों के विनाश में कारण भी बनी। स्वयं निरस्त्र रहकर वे बहिरंग दृष्टि से अधिकाधिक तटस्थता का प्रदर्शन कर रहे थे। इस प्रसंग में भी बलराम का मत श्री कृष्ण से भिन्न था। दुर्योधन जिस समय युद्ध का निमंत्रण लेकर बलराम के यहाँ पहुँचा, वहाँ उन्होंने (बलराम जी ने) अपना मनोभाव स्पष्ट कर दिया। वे चाहते थे कि यदुवंश इस संघर्ष में पूरी तरह तटस्थ रहे। उन्होंने दुर्योधन से यह स्पष्ट बता दिया कि मैं जो भी चाहूँ किन्तु श्री कृष्ण का अनुराग पाण्डवों के साथ है। वे उनका पक्ष लेंगे ही और मैं श्री कृष्ण से भी इतना स्नेह करता हूँ कि उनके विरुद्ध जाने की कल्पना भो नहीं कर सकता। अतः मैंने युद्ध से अलग रहने का निश्चय किया है।

विदितं ते नरव्याघ्र सर्वं भवितुमर्हति।
यन्मयोक्तं विराटस्य पुरा वैवाहिके तदा॥
निगृह्योक्तो हृषीकेशस्त्वदर्थं कुरुनन्दन।
मया सम्बन्धकं तुल्यमिति राजन् पुनः पुनः॥
न च तद् वाक्यमुक्तं वै केशवं प्रत्यपद्यत।
न चाहमुत्सहे कृष्णं बिना स्थातुमपिक्षणम्॥
नाह सहायः पार्थस्य नापि दुर्योधनस्य वै।
इति मे निश्चिता बुद्धि वसि देव मवेक्ष्य ह॥

रामायण का युद्ध इससे सर्वथा भिन्न परिवेष में लड़ा गया। यह एक पारिवारिक युद्ध नहीं था। इसमें युद्धरत दोनों पक्ष एक दूसरे से असम्बद्ध थे। भगवान् राम के समक्ष जातीय या पारिवारिक फूट का कोई प्रश्न नहीं था। वहाँ तो सारा देश और परिवार प्रेम और एकता के ऐसे सूत्र में आबद्ध था कि जिसको तोड़ सकना किसी के लिए सम्भव न था। इस युद्ध के लिए भगवान् राम को अयोध्या की सेना भी बुलाने की आवश्यकता न थी। उनके साथ सारा दक्षिण भारत था। कोल, किरात, बन्दर, भालु सभी उनके स्नेह सूत्र में आबद्ध उनके लिए जीवन

अर्पित करने के लिए प्रस्तुत थे। फूट की समस्या प्रतिपक्ष के समक्ष अवश्य थी। रावण का अपने भाइयों से मतभेद है। विभीषण रावण से पृथक् होकर श्री राम के पक्ष में चले गए क्योंकि उन्हें लगा कि यह युद्ध न्याय और अन्याय के बीच है और रावण अन्याय का प्रतिनिधित्व कर रहा है। इस तरह यह युद्ध उस प्रकार की जटिलताओं से मुक्त था, जिनका महाभारत के युद्ध में दर्शन होता है।

वस्तुतः ये दोनों युद्ध अपने युग की मनोभावनाओं का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। पौराणिक दृष्टि से राम और रावण का युद्ध त्रेतायुग में लड़ा गया और महाभारत का युद्ध द्वापर के अन्तिम भाग में। दोनों युगों की सामाजिक चेतना आदर्श और मानसिक पृष्ठ भूमि सर्वथा भिन्न प्रकार की है। पौराणिक परम्परा में काल का विभाजन चार युगों में किया गया है उनका नाम है—१. सतयुग, २. त्रेता, ३. द्वापर, ४. कलियुग। पुराण विकासवाद के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टि में युगों के क्रम में ह्रासवाद का सिद्धान्त मान्य है। युग सम्बन्धी पौराणिक मान्यता आधुनिक विज्ञान से इतनी भिन्न है कि उनमें समन्वय असम्भव सा है। आधुनिक विज्ञान सभ्यता का सारा इतिहास ही पांच हजार वर्षों का मानता है। वहाँ पौराणिक गणना करोड़ों वर्षों तक पहुँच जाती है। पौराणिक दृष्टि से कालचक्र अनवरत रीति से चलता रहता है। अतः उसके लिए विकास और ह्रास की प्रक्रिया इतनी ससीम हो भी नहीं सकती। आस्तिकता का प्रश्न भी इससे पूरी तरह सम्बद्ध है। ईश्वर यदि अनादि और अनन्त है तो उसकी दृष्टि का इतिहास भी उससे मिलता-जुलता होना चाहिए। आधुनिक विज्ञान जिन आधारों पर काल-क्रम का निर्णय करता है वे अन्तिम हैं यह मानना भौतिक विज्ञान के अन्ध श्रद्धालुओं के लिए ही सम्भव है। भौतिकवादी पृथ्वी का उत्खनन करता हुआ उससे उपलब्ध पदार्थों के आधार पर सभ्यता का काल-क्रम निश्चित करता है। पर यह उत्खनन भी तो कुछ विशेष स्थानों पर सम्भव हुआ है। फिर पौराणिक काल में विकास की जिस स्थिति का वर्णन किया गया है वह स्थूल भौतिक पदार्थों के स्थान पर मनोबल और शब्द विज्ञान से सम्बद्ध है। आज स्थूल पदार्थों के माध्यम से शक्ति का प्राकट्य और प्रयोग का युग चल रहा है। भौतिक विज्ञान ने इस दिशा में बड़ी प्रगति की है। किन्तु 'शक्ति' (ऊर्जा) प्राकट्य के अन्य साधन भी हो सकते हैं। भौतिक विज्ञान के प्रयोक्ता भी तो पृथक्-पृथक् देशों में

ऊर्जा के प्रकटीकरण के लिए भिन्न-भिन्न पदार्थों का प्रयोग करते हैं। आध्यात्म विज्ञान इसे मन और मंत्र के माध्यम से भी सम्भव मानता है। प्राचीन काल में इस दिशा में असाधारण प्रगति हुई थी।

अब उन लोगों की बात और है जो अन्ध विश्वास का विरोध करते हुए भी स्वयं बौद्धिकता या तर्क के प्रति अन्ध श्रद्धालु हैं। जिसमें इन प्रयोगों के देखने या अनुभव करने के धैर्य का अभाव है। पुराणों ने अन्य युगों के जिन अद्‌भुत चमत्कारों का उल्लेख किया है वे विशेष रूप से मन्त्र-जन्य थे। प्राचीन काल में जिन बाणों का प्रयोग किया जाता था स्वयं उनमें कोई विलक्षणता नहीं थी पर उन बाणों के साथ संकल्प और मन्त्र के जो प्रयोग किए जाते थे, उन्हीं से शक्ति का प्राकट्य होता था। अतः आज उनके अवशेष की खोज का कोई अर्थ नहीं है।

युग विभाजन में विकास और ह्रास को एक भिन्न अर्थ में भी देखा जा सकता है। विकास की आध्यात्मिक मान्यता भौतिकवादी मान्यता से सर्वथा भिन्न है। भौतिकवादी दृष्टि में विकास का अर्थ बाह्य समृद्धि सुख, सुविधा आदि का विस्तार है। आध्यात्मिक दृष्टि में विकास और ह्रास में मानसिक धरातल की ही मुख्यता है। भौतिक दृष्टि से समृद्ध होते हुए भी व्यक्ति मानसिक दृष्टि से निम्न धरातल का हो सकता है। अतः युगों की व्याख्या करते हुए अन्तःकरण के सद्‌गुणों को ही केन्द्र बनाया गया है।

शुद्ध सत्त्व समता बिज्ञाना।
कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना॥
सत्त्व बहुत रज कछु रति कर्मा।
सबबिधि सुख त्रेता कर धर्मा॥
बहु रज स्वल्प सत्त्व कछु तामस।
द्वापर धर्म हरष भय मानस॥
तामस बहुत, रजोगुण थोरा।
कलि, प्रभाव बिरोध चहुँ ओरा॥

जिस समय शुद्ध सत्त्व हो समता विज्ञान जैसे गुण अन्तःकरण में निवास करते हों लोगों का मन निर्मल हो तब उसे सतयुग कहते हैं।

सत्त्व के साथ रज का मिश्रण और कर्म में किंचित् आसक्ति और सुख की अनुभूति त्रेता का लक्षण है। रजोगुण का आधिक्य तमोगुण

और सतोगुण का यत्किंचित् मिश्रण हर्ष और शोक भय की परिवर्तित होती रहने वाली मनोवृत्ति का दर्शन द्वापर में होता है।

तमोगुण की अधिकता रजोगुण का लघुमिश्रण और बैर-विरोध की वृत्ति कलियुग का लक्षण है।

अत: यदि मान भी लें कि भौतिक दृष्टि से आज विश्व जितना विकसित है वैसा पहले कभी नहीं था। तब भी यह प्रश्न किया जा सकता है कि मानसिक दृष्टि से आज का व्यक्ति अधिक विकसित है या नहीं। विकास की दृष्टि से आज अमेरिका विश्व के सभी राष्ट्रों में आगे है। पर चारित्रिक या मानसिक धरातल पर भी उस राष्ट्र को हम विकसित मान सकते हैं ? अपराध के आँकड़ों से यह स्पष्ट है कि इस दिशा में भी अमेरिका ही सबसे आगे है। अब तो अनेक विचारवान अमेरिकियों ने भी स्वयं में यह प्रश्न किया है कि क्या हमारा राष्ट्र उन्माद की ओर बढ़ रहा है ? अत: आध्यात्मिक कसौटी पर उसे हम कलियुग की ही स्थिति कह सकते हैं। भले ही वह विकास क्रम में चन्द्रमा तक पहुँच गया हो। उन्होंने चन्द्रमा पर विजयध्वज भले ही फहरा दिया हो, पर अपने मनश्चन्द्र पर वे पराजित और पीड़ित हैं।

अस्तु हमारी पौराणिक मान्यता के अनुकूल श्री राम का अवतार त्रेता में होता है और श्री कृष्ण का द्वापर में। त्रेतायुग में सामूहिक मनोभाव सात्त्विकता का था। पर साथ ही उसमें रजोगुण का भी प्रवेश हो गया था। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उस युग में तमोगुण या पाप था ही नहीं। तमोगुण या पाप की समस्या प्रत्येक युग में विद्यमान रहती है। फिर भी उसे कृतयुग या त्रेतायुग कहने का तात्पर्य एक दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। काल-चक्र का विभाजन ऋतुओं के रूप में किया जाता है। ग्रीष्म, वर्षा और शरद् के रूप में हम उसका स्थूल विभाजन कर सकते हैं। ग्रीष्म ऋतु में मुख्यत: उत्ताप का अनुभव होता है। लू के थपेड़े व्यक्ति को झुलसा डालते हैं। पर यह आवश्यक नहीं कि ग्रीष्म में वर्षा का आगमन न हो। कई बार घोर घाम के दिनों में ऐसी वर्षा होती है कि व्यक्ति जुड़ा जाता है। कई दिनों तक शीतलता बनी रहती है। पर कितनी भी वर्षा क्यों न हो उस ऋतु का नाम ग्रीष्म के रूप में लिया जाता है। वर्षा में भले ही कई दिनों तक वर्षा न हो, ताप का अनुभव होने लगे पर उसे वर्षा ही कहेंगे। ठीक इसी तरह सभी युगों

में पाप ताप भयानक रूपों में आते हैं पर मुख्यतः काल का नामकरण परम्परा के अनुकूल ही होता है। त्रेतायुग में पाप का प्रतिनिधित्व रावण करता है उसकी जाति को हम निशाचर कहते हैं, दूसरी ओर उसका उच्छेद करने के लिए ईश्वर का अवतार सूर्यवंश में होता है। इस तरह प्रकाश और अन्धकार का यह युद्ध बड़ी सरलता से समझ में आ सकता है। पर द्वापर युग का युद्ध बड़ा ही विलक्षण है। यहाँ प्रकाश और अन्धकार को पृथक् कर पाना इतना सरल नहीं है। त्रेतायुग की तरह वहाँ पाप और पुण्य की सत्ता अलग-अलग नहीं है। त्रेतायुग में सूर्यवंश में पवित्रतम राजाओं का प्रादुर्भाव होता है। महाराज निमि की परम्परा का तो कहना ही क्या, वह तो विदेहों की परम्परा है। इन दोनों वंशों का श्रीराम और श्रीसीता के विवाह के माध्यम से सम्बन्ध स्थापित होता है। द्वापर युग मिश्रित वासनाओं का काल है। प्रत्येक वंश और अधिकांश व्यक्तियों के जीवन में पाप और पुण्य इतने घुल मिल गये हैं कि यह कहना कठिन है कि कौन सा वंश पवित्र है और कौन सा अपवित्र। व्यक्तियों की भी यही दशा है। इसी के प्रतीकार्थ में प्रभु का यह अवतार चन्द्रवंश में होता है। चन्द्रमा प्रकाश पुञ्ज है। अपनी शीतल रश्मियों से व्यक्तियों का ताप मिटाता है, विश्राम देता है पर वह अन्धकार के मध्य में प्रगट है। यदि वह न हो तो रात्रि का अन्धकार भयावना हो उठेगा, मात्र चोर और हिंसक जन्तुओं का काम रह जायगा। ईश्वर के प्राकट्य के पूर्व की पृष्ठ भूमि दोनों युगों में सर्वथा भिन्न है। त्रेतायुग में दसमुख अपनी क्षमता से विश्व को बस में कर लेता है। पर उस समय विश्व के स्वामित्व के दो दावेदार हैं। यदि रावण 'मण्डलीक मणि' है तो महाराज दशरथ भी चक्रवर्ती सम्राट् हैं।

आगे होइ जेहि सुरपति लेई।
अर्ध सिंहासन आसन देई॥
ससुर चक्कवइ कोसल राऊ।
भुवन चारि दिसि प्रगट प्रभाऊ॥

× × ×

भुज बल बिस्व बस्य करि राखेसि कोउ न सुतन्त्र।
मण्डलीक मणि रावण राज करइ निज मंत्र॥

अतः यहाँ पाप और पुण्य का बराबरी का संघर्ष है। रावण यश-

ध्वंसक है तो महाराज दशरथ यज्ञकर्ता हैं। पर द्वापर युग में स्थिति सर्वथा भिन्न है। चन्द्रवंश को अनेक शाखाओं का उल्लेख बड़े विस्तार से हरिवंश पुराण में किया गया है। कंस, शिशुपाल, दंतवक्त्र आदि सभी राजा भी किसी न किसी रूप में एक ही वंश से सम्बद्ध हैं। उसी वंश की एक शाखा में भगवान् श्री कृष्ण भी अवतार लेते हैं। यहाँ तक, कौरव पाण्डव सभी एक वंश के ही नहीं, एक ही परिवार के निकटतम सदस्य हैं। पाप और पुण्य का इतना निकट सम्बन्ध द्वापर की मनोभूमि को प्रगट करता है। यदु वंश अनेक शाखाओं में विभाजित था, भोज वृष्णि और अन्धक आन्तरिक मनोमालिन्य से पीड़ित थे। वे कभी भी एक दूसरे का विश्वास नहीं कर पाते थे। चारित्रिक दृष्टि से द्वापर युग निम्न धरातल पर पहुँच गया था। अन्य पात्रों की बात तो जाने दें स्वयं श्री कृष्ण के अग्रज बलराम की सहानुभूति दुर्योधन के प्रति होना अपने आप में आश्चर्यचकित कर देने वाला कटु सत्य है। श्री लक्ष्मण या श्री भरत, शत्रुघ्न के लिए यह स्वप्न में भी कल्पना नहीं हो सकती। पर द्वापर युग में यह असंभव संभव बन कर आता है।

त्रेतायुग में रजोगुण की थोड़ी झलक दिखाई देती है। मंथरा या कैकेई के हृदय में उठने वाला मनोभाव उसी की एक सांकेतिक सूचना है। पर इस मनोभावना को कहीं से प्रोत्साहन नहीं प्राप्त होता। ऐसी मनोभावना के कारण श्री कैकेई समाज से सर्वथा अलग-थलग पड़ जाती हैं। पुत्र ने उनसे जीवन भर वार्तालाप नहीं किया। श्री भरत ने अयोध्या के सारे साम्राज्य को अस्वीकार कर दिया। श्री लक्ष्मण ने तो सारा जीवन प्रभु की सेवा में लगा दिया। श्री शत्रुघ्न का जीवन समर्पण की पराकाष्ठा है।

इसकी तुलना में स्यमन्तक मणि की कथा का वर्णन हरिवंश में पुराण में आता है। अक्रूर श्री कृष्ण के प्रिय भक्त हैं। पर मणि की चोरी करवा लेने में उन्हें कोई संकोच नहीं होता है। उनके हृदय में श्री कृष्ण प्रिया सत्यभामा के प्रति भी आसक्ति के भाव विद्यमान थे। शतधन्वा ने सत्राजित का वध करके वह मणि लाकर अक्रूर को दे दी। उसे लेकर वे वहाँ से भाग गए। अक्रूर की इसी क्रूर कृति का वर्णन संक्षेप में इस प्रकार किया गया है—

सदा हि प्रार्थयामास सत्यभामा मनिन्दिन्ताम्।
अक्रूरोऽन्तरमन्विच्छन् मणिं चैव स्यमन्तकम्॥

सत्रजितं ततो हत्वा शतधन्वा महाबलः।
रात्रौ तमणिमादाय ततोऽक्रूराय दत्तवान्॥
अक्रूरस्तु ततो रत्नमादाय भरतर्षभ !
समयं कारयाँचक्रे नावेद्योऽहं त्वयेत्युत॥

श्री कृष्ण उस समय हस्तिनापुर में थे। महिषी सत्यभामा की पीड़ा का उपशमन करने के लिए वे लौट कर शतधन्वा का पीछा करते हैं। और उसका वध कर देते हैं। शतधन्वा के पास खोजने पर वह मणि नहीं मिली। पर आश्चर्य और दुःख की पराकाष्ठा तब आती है जब बलराम श्री कृष्ण से प्रश्न करते हैं 'स्यमन्तक मणि कहाँ है'। श्री कृष्ण ने उत्तर दिया 'वह शतधन्वा के पास नहीं मिली'। बलराम क्रोध में भर कर चिल्ला उठते हैं। धिक्कार है, धिक्कार है। उन्हें लगता है श्री कृष्ण ने वह मणि छिपा ली है। इतना ही नहीं वे इतने क्षुब्ध होते हैं कि श्री कृष्ण की आलोचना करते हुए वे द्वारिकापुरी का परित्याग कर देते हैं। महाराज जनक के राज्य में अतिथि रह कर वे दुर्योधन को गदा युद्ध की शिक्षा देते हैं। थोड़े दिन पूर्व लाक्षागृह में दुर्योधन ने पाण्डवों को जलाकर मारने की चेष्टा की थी। अतः श्री कृष्ण का दुर्योधन के प्रति रोष स्वाभाविक था। उसी दुर्योधन को गदा युद्ध की शिक्षा देना बलराम के लिए सर्वथा अनौचित्य पूर्ण था और यह सब हुआ केवल एक मणि की आशंका के कारण। त्रेतायुग के भ्रातृ-प्रेम की तुलना में इस प्रसंग का स्मरण आना स्वाभाविक है, जिसका वर्णन इस रूप में किया गया है—

स्यमन्तकं च नापश्यद्धत्वा भोजं महाबलम्।
निवृत्तं चाब्रवीत् कृष्णं रत्नं देहीति लाङ्गली॥
नास्तीति कृष्णश्चोवाच ततो रामो रुषान्वितः।
धिक्छब्दमसकृत् कृत्वा प्रत्युवाच जनार्दनम्॥
भ्रातृत्वान्मर्षयाम्येष स्वस्ति तेऽस्तु व्रजाम्यहम्।
कृत्यं न मे द्वारकया न त्वया न च वृष्णिभिः॥

रामचरितमानस में अयोध्यावासियों के सौभाग्य की सराहना की गई। धन्य है वह नगर जहाँ ब्रह्म का अवतार हुआ। जहाँ श्री राम के मंगलमय राज्य में रह कर प्रजा धन्य हुई।

उमा अवध बासी नर नारि कृतारथ रूप।
ब्रह्म सच्चिदानन्द घन रघुनायक जहँ भूप॥

उतना ही सौभाग्यशाली यदुवंशियों को भी माना जाना चाहिए था। किन्तु श्री मद्भागवत में उन्हें सबसे बड़ा अभागा बताया गया क्योंकि इतने निकट होते हुए भी यदुवंशियों ने भगवान् को नहीं पहचाना।

यदुवंशियों का अन्तिम विनाशमूलक संघर्ष इसका सबसे बड़ा दृष्टान्त है, जहाँ दुःख और करुणा अपनी सीमा तक पहुँच जाते हैं। द्वापर युग की दूसरी घटना हमारे समक्ष कौरव और पाण्डवों के संघर्ष के रूप में आती है। यद्यपि इसी भीषण दुर्घटना ने श्रीमद्भगवत् गीता के दिव्यज्ञान को अभिव्यक्त किया। कौरव और पाण्डव एक कुल के ही नहीं अपितु एक परिवार के सदस्य थे। क्या कौरव और पाण्डवों का युद्ध धर्म और अधर्म का युद्ध था ? इस प्रश्न का उत्तर देना सरल नहीं है। बहुधा इसे धर्म और अधर्म के युद्ध के रूप में ही प्रस्तुत किया जाता है। एक अंश में हम इसे भले ही यथार्थ मान लें किन्तु अन्तरंग दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह उन अर्थों में धर्म और अधर्म का युद्ध नहीं है, जिस रूप में हम राम-रावण के युद्ध को देखते हैं। इसीलिए दोनों युद्धों की अन्तिम परिणति सर्वथा भिन्न रूप से होती है। रामायण के युद्ध की समाप्ति के पश्चात् भगवान् राम इन्द्र से अनुरोध करते हैं कि वे अमृत वर्षा के द्वारा मृत बन्दरों को जीवित करें।

सुनु सुरपति कपि भालु हमारे।
परे भूमि निसिचरन्हि जे मारे॥
मम हित लागि तजे इन प्राना।
सकल जिआउ सुरेश सुजाना॥
सुनु खगेस प्रभु कै यह बानी।
अति अगाध जानहि मुनि ज्ञानी॥
प्रभु सक त्रिभुअन मारि जिआई।
केवल सक्रहि दीन्हि बड़ाई॥
सुधा बरषि कपि भालु जिआए।
हरषि उठे सब प्रभु पहिं आए॥

देवराज इन्द्र ने प्रसन्नता पूर्वक इस अनुरोध को स्वीकार किया। अमृत वर्षा के द्वारा सारी सेना जीवित्त कर दी गई। महाभारत के युद्ध में कौरवों की ओर केवल तीन व्यक्ति शेष थे। कृतवर्मा, कृपाचार्य और अश्वत्थामा। पाण्डवों की एक अक्षौहिणी सेना शेष थी। भगवान् श्री कृष्ण को ऐसा लगा कि इस बची हुई एक अक्षौहिणी सेना का विनाश भी अपेक्षित है। उन्होंने पाँचों पाण्डवों को लेकर एक विशिष्ट तीर्थ की यात्ना की, उसी रात्रि को अश्वत्थामा ने अवसर पाकर बची हुई एक अक्षौहिणी सेना का विनाश कर दिया। उस रात्नि को मारे जाने वालों में न केवल साधारण सैनिक थे अपितु पाण्डवों के प्रधान सेनापति, द्रौपदी के भाई धृष्टद्युम्न भी थे। उस रात्रि के विनाश का सबसे करुण पक्ष यह था कि अश्वत्थामा ने द्रौपदी से उत्पन्न पाँच पुत्नों का सिर काट लिया। अश्वत्थामा ने इन पाँच सिरों को अपने विजय चिन्ह के रूप में ले जाकर म्रियमाण महाराज दुर्योधन को दिखाया। इससे उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। क्योंकि उसे अपने शत्नुओं से बदला लेना अभीष्ट था। इस तरह महाभारत के इस युद्ध की परिणति सर्वनाश के रूप में हुई। पराजित पक्ष की अपेक्षा विजेता कम शोकातुर नहीं था। क्योंकि उसके समक्ष लक्ष-लक्ष विधवाओं का आर्तनाद था। शोक और महाशून्य को छोड़कर उनके समक्ष बचा ही क्या था। पर इस विनाश के पीछे स्वयं श्री कृष्ण का संकल्प था। बहिरंग दृष्टि से यह तथ्य कितना अटपटा और भयावह प्रतीत होता है किन्तु श्री कृष्ण का यह कार्य उनकी तटस्थ निरपेक्ष न्याय दृष्टि का सर्वश्रेष्ठ दृष्टान्त है। उनकी दृष्टि में यह संघर्ष अपने समग्र अर्थों में धर्म और अधर्म का संघर्ष नहीं था। यहाँ भी मिश्रित वासना का सिद्धान्त कार्य कर रहा था। कौरवों की तुलना में पाण्डवों का चरित्र उदात्त था। यह मान लेने पर भी उनको पूर्ण आदर्श चरित्र के रूप में नहीं स्वीकार कर सकते। युधिष्ठिर और अर्जुन के जैसे महापुरुषों के चरित्र में ऐसे क्षण आते हैं जब वे चारित्रिक दृष्टि से बड़े उच्च धरातल पर दिखाई देते हैं। पर समग्र जीवन में उनकी दुर्बलतायें भी उतनी ही बड़ी थीं। कौरवों के चरित्र में भी उदात्त चरित्र के कुछ चित्र आते हैं फिर भी दुर्योधन की हिंस्र वृत्ति प्रबल थी। दोनों पक्ष से लड़ रहे योद्धाओं में भी अद्भुत विरोधाभास दिखाई देता है। दुर्योधन के पक्ष से लड़ रहे व्यक्तियों में ऐसे भी महापुरुष हैं जिनकी गौरव गाथा का स्मरण कर आज भी हृदय भावाभिभूत हो उठता है। पितामह

भीष्म उनमें अन्यतम थे। एक ऐसा महापुरुष जिसने अपने पिता को सुखी देखने के लिए आजीवन ब्रह्मचारी रहने का संकल्प किया। राज्य सत्ता का परित्याग कर दिया। जो धर्म का अद्वितीय ज्ञाता था। श्री कृष्ण के चरणों में जिसकी अनुरक्ति थी। जिसने भगवान् परशुराम से सत्ताइस दिनों तक युद्ध कर अपने अपूर्व शौर्य और शस्त्र-कौशल का परिचय दिया था। फिर भी वह महापुरुष दुर्योधन की ओर से घोर युद्ध कर रहा था, भले ही उसकी मानसिक सहानुभूति पाण्डवों के प्रति ही रही हो। महारथी कर्ण हर दृष्टि से अद्भुत था। उसकी दान निष्ठा अतुलनीय थी। अनेक मानवीय गुणों का वह पुन्ज था। कृतज्ञता, मैत्री और शौर्य की वह साकार प्रतिमा था। पाण्डवों का ज्येष्ठ बन्धु होकर भी वह दुर्योधन की ओर से संघर्षरत था। गुरु द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि भी गुण गण मण्डित थे। फिर भी न जाने वह कौन सी बाध्यता थी (जिसे वह धर्म की बाध्यता समझते थे) जिससे प्रेरित होकर इन लोगों ने दुर्योधन का साथ देने का निर्णय किया। इस तरह कौरवों के पक्ष में धर्माधर्म का यह अनोखा मिश्रण विद्यमान है। पाण्डवों के पक्ष में भी जो लोग संघर्षरत थे उनमें भी इसी प्रकार का मिश्रण विद्यमान है। ऐसी स्थिति में इस युद्ध में एक पक्ष की समग्र विजय का तात्पर्य शुद्ध धर्म की विजय के रूप में नहीं हो सकता था। इसलिए श्री कृष्ण एक निष्पक्ष न्यायाधीश की भाँति कार्य कर रहे थे। जिसके सामने अपने और पराए का भेद न होकर शुद्ध न्याय विद्यमान है।

रावण वध के पश्चात् लंका पर विभीषण का शासन स्थापित होता है और सारे विश्व में मंगलमय रामराज्य की स्थापना होती है। हमारे सारे पुराण और इतिहास रामराज्य को अद्वितीय 'न भूतो न भविष्यति' के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

राम राज बैठे त्रैलोका।
हरषित भए गए सब सोका॥
बयरु न कर काहू सन कोई।
राम प्रताप बिषमता खोई॥
बरनाश्रम निज-निज धरम, निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहि भय, सोक न रोग॥
दैहिक दैविक भौतिक तापा।
राम-राज नहिं काहुहि ब्यापा॥

सब नर करहिं परसपर प्रीती।
चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥
चारिउ चरन धर्म जग माहीं।
पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं॥
राम भगति रत नर अरु नारी।
सकल परमगति के अधिकारी॥
अल्प मृत्यु नहिं कवनेउ पीरा।
सब सुंदर सब बिरुज सरीरा॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना।
नहि कोउ अबुध न लच्छन हीना॥
सब निर्दम्भ धर्मरत मुनी।
नर अरु नारि चतुर सब गुनी॥
सब गुनग्य सब पंडित ग्यानी।
सब कृतग्य नहिं कपट सयानी॥
राम काज नभगेस सुनु सचराचर जग माहिं।
काल कर्म सुभाव गुन कृत दुःख काहुहिं नाहिं॥
भूमि सप्त सागर मेखला।
एक भूप रघुपति कोसला॥
भुअन अनेक रोम प्रति जासू।
यह प्रभुता कछु बहुत न तासू॥
सो महिमा समुझत प्रभु केरी।
यह बरनत हीनता घनेरी॥
सोउ महिमा खगेस जिन्ह जानी।
फिरि एहिं चरित तिन्हहुँ रति मानी॥
सोउ जाने कर फल यह लीला।
कहहिं महा मुनिबर दमसीला॥
राम-राज कर सुख सम्पदा।
बरनि न सकइ फनीस सारदा॥
सब उदार सब पर उपकारी।
बिप्र चरन सेवक नर-नारी॥
एक नारि ब्रत रत सब झारी।
ते मन बच क्रम पति हितकारी॥

दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज।
जीतहु मनहिं सुनिअ अस रामचन्द्र के राज॥

फूलहिं फलहिं सदा तरु कानन।
रहहिं एक संग गज पंचानन॥
खग मृग सहज बयरु बिसराई।
सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई॥
कूजहिं खग मृग नाना वृन्दा।
अभय चरहिं बन करहिं अनंदा॥
सीतल सुरभि पवन बह मंदा।
गुंजत अलि लै चलि मकरंदा॥
लता बिटप माँगें मधु चवहीं।
मन भावतो धेनु पय स्रवहीं॥
ससि सम्पन्न सदा रह धरनी।
त्रेता भइ कृत जुग कै करनी॥
प्रगटी गिरिन्ह बिबिध मनि खानी।
जगदातमा भूप लग जानी॥
सरिता सकल बहहिं बरबारी।
सीतल-अमल स्वाद सुखकारी॥
सागर निज मरजादाँ रहहीं।
डारहिं रत्न तटन्हि नर लहहीं॥
सरसिज संकुल सकल तड़ागा।
अति प्रसन्न दस दिसा बिभागा॥

बिधु महिं पूर मयूखन्हि रबि तप जेतनेहिं काज।
मागे बारिद देहिं जल रामचंद्र के राज॥

महाभारत के युद्ध की परिणति किसी ऐसे आदर्श राज्य के संस्थापन में नहीं होती। उसे अधिक से अधिक न्याय की विजय कह सकते हैं। राज्य के उत्तराधिकार के प्रश्न पर दुर्योधन अन्याय कर रहा था। वन से लौटने के बाद पाण्डवों का उचित स्वत्त्व उन्हें मिलना चाहिए था। किन्तु दुर्योधन की लोभ वृत्ति इतनी प्रबल थी कि वह पूरे राज्य का तो प्रश्न ही क्या, पाण्डवों को पाँच गाँव देने के लिए भी प्रस्तुत नहीं था। अतः महाभारत का युद्ध न्यायपूर्ण स्वत्त्व के लिए लड़ा गया। दुर्योधन

की वृत्ति रावण से भिन्न थी। रावण धर्म के विरुद्ध संघर्षरत था, इसलिए वह उन सभी लोगों को नष्ट करने पर तुला हुआ था जिनके द्वारा धर्म को संरक्षण प्राप्त होता था। उसने देवता, ब्राह्मण और ऋषियों को अपने प्रहार का मुख्य लक्ष्य बनाया—

सुभ आचरन कतहुँ नहि होई।
देव बिप्र गुरु मान न कोई॥
नहिं हरि भगति जज्ञ तप दाना।
सपनेहु सुनिय न बेद पुराना॥

इसीलिए रावण के अत्याचार से संत्रस्त पृथ्वी व्याकुल होकर देवता और मुनियों का आश्रय लेती है। दुर्योधन इस प्रकार की प्रवृत्ति से परिचालित नहीं था। वह धर्म नष्ट करने या ऋषि, मुनि, देवताओं के विरुद्ध युद्धरत नहीं था। उसके विद्वेष के मुख्य केन्द्र पाण्डव थे। वह उन्हें नहीं सह सकता था। उनके प्रति दुर्व्यवहार करने में उसे हार्दिक सुख मिलता था। द्रौपदी को नग्न करने की आज्ञा देकर वह पाण्डवों को भरी सभा में अपमानित करना चाहता था। पर जहाँ तक अन्य लोगों से व्यवहार का प्रश्न था, वह सभ्य और शिष्ट था। वह स्वयं विशाल वैष्णव यज्ञ करता है। ब्राह्मणों को उदारतापूर्वक दान देता है। प्रजा के प्रति उसका व्यवहार बड़ा उत्तम था। महाभारत में उसके द्वारा किए जाने वाले सत्कर्मों का श्रेष्ठ चित्रण किया गया है। व्यक्तिगत रूप से अत्यन्त स्वार्थी होते हुए भी अधर्म के प्रसार के लिए सक्रिय रूप से उसका कोई प्रयास नहीं था। अतः यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि यदि राम और रावण के युद्ध में धर्म और अधर्म का संघर्ष था तो पाण्डवों और कौरवों का युद्ध न्याय और अन्याय को लेकर लड़ा गया। इस युद्ध का सन्तोषजनक परिणाम यही था कि इसमें न्याय की विजय हुई और पाण्डवों को अपना उचित अधिकार प्राप्त हुआ। महाराज युधिष्ठिर मानवोचित गुणों से युक्त थे अतः उन्होंने योग्यतापूर्वक राज्य संभाला। उनके सुशासन में प्रजा सन्तुष्ट थी। पर उसमें आदर्श की ऐसी कोई ऊँचाई विद्यमान नहीं थी कि उस राज्य को रामराज्य की तरह युगों तक स्मरण किया जाय।

इसे यों भी कह सकते हैं कि रामायण का युद्ध "कर्त्तव्य" को सामने रखकर लड़ा जाता है। भगवान राम यदि चाहते तो इस युद्ध से पूरी

तरह बचा जा सकता था। उन्होंने स्वयं अपनी ओर से छेड़खानी की थी। सूर्पणखा को विरूप करने का उद्देश्य भी यही था। यह रावण के लिए चुनौती थी—

लछिमन अति लाघव तेहि नाक कान बिनु कीन्ह।
ताके कर रावण कहँ मनहु चुनौती दीन्ह॥

यह कर्तव्य की पुकार थी जिसने श्रीराम को इस संघर्ष के लिए प्रेरित किया था। राक्षसों द्वारा खाए गए ऋषि मुनियों की हड्डियों का ढेर देखकर करुणा से व्यथित रामभद्र ने प्रतिज्ञा की थी—

निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह॥

महाभारत का युद्ध न्यायोचित अधिकार के लिए लड़ा गया था। वहाँ युद्ध बचाने का प्रयास है और द्रौपदी की दृष्टि में सन्धि नहीं युद्ध श्रेष्ठ था तो भी इसलिए कि वह स्वयं के अपमान का बदला चाहती हैं। अतः युद्ध क्षेत्र में अर्जुन के अन्तर्द्वन्द्व के पीछे भी यही मनोभावना और ग्लानि थी कि अन्ततोगत्त्वा यह युद्ध राज्य और भोगों के लिए लड़ा जा रहा है। अपने स्थान पर उसका यह सोचना सर्वथा मानवोचित था कि क्या इस रक्त से सनी पृथ्वी का उपभोग करना उचित होगा ? फिर भी श्रीकृष्ण यदि उसे युद्ध के लिए प्रेरित करते हैं तो अनेक कारणों के साथ एक मुख्य कारण यह भी था कि उनकी दृष्टि में यह विनाश अपरिहार्य था।

भगवान राम और भगवान कृष्ण ने समाज के समक्ष जो जीवन दर्शन प्रस्तुत किया वह एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होते हुए भी परस्पर पूरक है। भगवान राम अपने चरित्र के द्वारा आदर्श का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं यह लोक निर्माण की प्रक्रिया है। भगवान श्री कृष्ण जीवन का यथार्थ प्रस्तुत करते हैं जो एक ओर मिठास से भरा हुआ है तो दूसरी ओर वह कटुतिक्त भी कम नहीं है। भगवान राम काल प्रक्रिया को पुरुषार्थ द्वारा बदलने का आह्वान करते हैं। इसलिए उनके राज्यकाल में त्रेतायुग होते हुए भी मानसिक धरातल सतयुग के समान हो गया। सारी प्रकृति की गति ही १२००० वर्ष के लिए बदल गयी। "त्रेता भइ सतजुग की करनी"—

त्रेतायां वर्तमानायां कालः कृतसमोऽभवत्।
रामे राजनि धर्मज्ञे सर्वभूतसुखावहे॥

श्रीकृष्ण काल प्रक्रिया को परिवर्तित नहीं करते। वे सृष्टि को अपनी सहज गति से चलने देते हैं। काल प्रक्रिया में अवरोध उत्पन्न करने के स्थान पर वे उसमें गति ही देते हैं। राम कहते हैं सृष्टि बदलो, कृष्ण कहते हैं दृष्टि बदलो। जब श्री रामभद्र सृष्टि बदलने की बात करते हैं तब उसका उद्देश्य दृष्टिपरिवर्तन का विरोध नहीं है। दृष्टि बदलने की आवश्यकता तो प्रत्येक युग में है पर दृष्टि परिवर्तन सामूहिक वस्तु नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह दृष्टि परिवर्तन कर लेगा। अपितु संभावना यही है कि इस दृष्टि परिवर्तन के नाम पर एक प्रकार की जड़ता आ सकती है। प्रत्येक स्वार्थपरायण व्यक्ति इस सिद्धान्त का दुरुपयोग कर सकता है। आज भी समाज में इस प्रकार की प्रक्रिया चल रही है। दरिद्र व्यक्तियों को तथाकथित अध्यात्मवादी यह समझाने की चेष्टा करते हैं कि धन में कोई सुख नहीं है। यद्यपि इस प्रकार का उपदेश देने वाले स्वयं अपने लिए धन से प्राप्त होने वाली प्रत्येक सुविधा का उपयोग करना चाहते हैं। इस प्रकार का विरोधाभासी तथ्य लोगों के मन में उद्वेग और विद्रोह की सृष्टि कर देता है। दृष्टिकोण के परिवर्तन के नाम पर इस प्रकार के मिथ्याचार का समर्थन नहीं किया जाना चाहिए। गोस्वामी जी ने दरिद्रता और अभाव के दुःख को जाना था इसीलिए उन्होंने दरिद्रता को सबसे बड़ा दुःख बताया। "नहि दरिद्र सम दुख जग माहीं" में उनकी स्वयं की अनुभूति बोल रही थी इसीलिए वे रामराज्य का वर्णन करते हुए "नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना" को बहुत महत्व देते हैं। गोस्वामी जी की मान्यता के अनुकूल आदर्श समाज वही है जहाँ बहिरंग और आन्तर दोनों ही प्रकार की सम्पन्नता विद्यमान हो। सामाजिक परिवर्तन के साथ दृष्टि परिवर्तन भगवान राम के आदर्श के अनुकूल है।

क्या इसका तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण का दृष्टिवादी दर्शन त्रुटिपूर्ण है? नहीं, ऐसा कहना भगवान श्रीकृष्ण के प्रति अन्याय होगा। व्यक्ति और समाज के समक्ष ऐसे जटिल अवसर आते हैं जब दृष्टिवाद ही उसकी रक्षा कर सकता है उसे सान्त्वना प्रदान कर सकता है। जीवन निर्माण की प्रक्रिया ही कुछ ऐसी जटिल है कि सदा वही होना संभव नहीं होता जिसे हम चाहते हैं। जीवन के समान मृत्यु भी अपरिहार्य सत्य है। पराभव पीड़ा और मृत्यु के क्षणों में व्यक्ति इन घटनाओं के प्रति विशेष दृष्टि का आश्रय लेकर ही शान्त और तटस्थ रह सकता है। भगवान

कृष्ण के चरित्र में पग-पग पर यही सत्य मुखर हो रहा है। बहिरंग दृष्टि से उनमें राग की पराकाष्ठा का दर्शन होता है। सत्य तो यह है कि उनके राग पक्ष ने ही जन-मन को अधिक सम्मोहित किया है। वृन्दावन की रस-मयी लीलाएँ हृदय को भावाभिभूत कर लेती हैं। उनकी चपल बाल लीला एक सलोने नटखट कन्हैया का वह रूप प्रस्तुत करती है जिस पर सारे ब्रज-वासी तो लट्टू थे ही आज भी सरस हृदयों में एक अनोखे भाव का सञ्चार कर देती है। उनका गायों के पीछे भागना, माखन चुराना, सखाओं के साथ किया गया हास विलास क्या भूलने की वस्तु है ? फिर उनके बाँसुरी का वह जादू जो मनुष्यों की तो बात ही क्या पशु, पक्षी, जड़, चेतन सभी को अपने स्नेह पाश में बाँध लेता है। प्रेममयी गोपियों का वह समर्पण जो लोक और वेद की मर्यादाओं से ऊपर उठा हुआ है जिनके चरण रज की कामना लोक पितामह ब्रह्मा करते हैं इतिहास का अविस्मरणीय पृष्ठ है। उनका वह अनुपम रास-गोपियों के साथ नृत्य करते कृष्ण, उनका श्रृंगार करने वाले कृष्ण, मानवती गोपियों को पैरों पड़कर मनाने वाले कृष्ण को देखकर लगता है कि इन जैसा रागी संसार में हुआ ही नहीं, पर दृश्य परिवर्तन होता है अक्रूर के साथ उनकी मथुरा की यात्रा, बिदाई का वह दृश्य, किसे नहीं रुला देता। पर मथुरा में पहुँचते ही क्या से क्या हो गया ? कंस वध के पश्चात् वे नन्द बाबा को विदा कर देते हैं, आश्वासन देते हैं पुनः व्रज में लौटकर आने का। पर आश्वासन आश्वासन ही रहा। नन्द यशोदा का वात्सल्य गोपियों का समर्पण बाल सहचरों का स्नेह कोई भी तो उन्हें लौटाने में समर्थ नहीं होता। वह मधुमयी बंशी जिस पर विश्व विमोहित था फिर कभी नहीं बजी। सारा वर्णन पढ़ते हुए भावुकों का हृदय विदीर्ण होने लगता है। क्या आश्चर्य यदि व्रज रस के भावुकों ने इन कृष्ण की सत्ता को ही अस्वीकार कर दिया। उनके कृष्ण वृन्दावन को छोड़कर एक पग भी नहीं जाते।

वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।

उनके कृष्ण तो "मुरली वाले श्याम" हैं—

हमारो मुरली वालो श्याम।
बिनु मुरली बन माल चन्द्रिका नहि पहिचानत नाम॥
गोप रूप बृन्दाबन चारी ब्रज जन पूरन काम।
याही सो हित चित्त बढ़ौ नित दिन दिन पल छिन जाम॥

नंदी सुर गोबरधन गोकुल बरसानो बिश्राम।
नागरिदास द्वारिका मथुरा इनसो कैसो काम॥

उनकी यह अस्वीकृति रस और भाव राज्य के अनुकूल है। पर जीवन की यथार्थवादी विडम्बना भी यही है कि वहाँ हमारी अस्वीकृति से कोई परिवर्तन नहीं होता। भावुकों के भाव राज्य में कृष्ण भले ही वृन्दावन का एक क्षण के लिए भी त्याग न करते हों इतिहास में तो उन्होंने व्रज का ऐसा त्याग किया कि लौटकर फिर गए ही नहीं। रसिकों के दूसरे पक्ष ने इसमें विरह और प्रेम की प्रतिष्ठा की। आँसू बहाती हुई प्रतीक्षारत गोपियों के प्रेम वर्णन से साहित्य धन्य हुआ। पर इसका दूसरा पक्ष है जीवन की वास्तविकता, संयोग के साथ वियोग अवश्यम्भावी है। प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है और उसमें किसी क्षण को बाँध रखने की चेष्टा व्यर्थ है। अतीत कितना भी मधुर क्यों न हो वह रुकने से रहा उसकी स्मृति सुखद भी हो सकती है और रुलाने वाली भी पर केवल पुरानी स्मृति में डूबे रहना वर्तमान के प्रति अन्याय है। वर्तमान को सार्थक करना व्यक्ति का कर्त्तव्य है। इसीलिए श्री कृष्ण मथुरा में प्रतिक्षण व्यस्त हैं उनके पास शत-शत कार्य हैं। वे गोपियों के स्नेह की स्मृति अब भी कर लेते हैं उन्हें आश्वासन देने के लिए दृष्टिकोण को परिवर्तित करने के लिए अपने प्रिय सखा उद्धव को वृन्दावन भेजते हैं। पर वे स्वयं अतीत में नहीं लौट सकते। वर्तमान में वे पूरी तरह संलग्न हैं उनके समक्ष गोपियाँ नहीं कुब्जा है। कुब्जा जो हर दृष्टि से गोपियों से भिन्न है। गोपियों के सौन्दर्य के स्थान पर उसके शरीर में टेढ़ापन है। प्रेम और समर्थन के स्थान पर वासना और उपभोग की कामना है। श्रीकृष्ण उसे सुन्दर बनाकर स्वीकार कर लेते हैं। गोपियों की स्मृति में वे वर्तमान की उपेक्षा नहीं करते। वे विवाह करते हुए सम्बन्ध स्वीकार करते हैं पर एक विवाह उनके द्वितीय विवाह में बाधक नहीं है। कहीं विवाह इसलिए स्वीकार कर लेते हैं क्योंकि वह राजनैतिक आवश्यकता थी। सत्यभामा से विवाह करते हुए उनके समक्ष यही दृष्टिकोण मुख्य था। द्वारिका में बहुवंशीय समाज विद्यमान था उसमें परस्पर मतभेद, आशंकाएँ और भय विद्यमान था। सत्यभामा के पिता को ऐसा प्रतीत हुआ कि श्रीकृष्ण उनसे प्रसन्न नहीं हैं। श्रीकृष्ण ने किसी समय उनसे यह अनुरोध किया था कि वे स्यमन्तक मणि उन्हें दे दें। वस्तुतः इस मणि की याचना के पीछे श्री कृष्ण की प्रलोभन वृत्ति नहीं थी। उन्हें यह ज्ञान था कि उस पर अनेक लोगों की लोलुप दृष्टि लगी हुई है। संघर्ष बचाने का

सबसे अच्छा उपाय यही था कि वह ऐसे व्यक्ति के पास रहे जिसके प्रति विद्रोह का विचार अन्य लोग न कर सकें। ऐसी क्षमता कृष्ण में ही थी उस समय सत्राजित ने इसे अस्वीकार कर दिया। पर बाद में उन्हें लगा कि कृष्ण की उपेक्षा ठीक नहीं है और उन्होंने अपनी कन्या सत्यभामा को स्वीकार करने का अनुरोध श्रीकृष्ण से किया। यदि कृष्ण इस सम्बन्ध को अस्वीकार कर देते तो उनकी आशंका और भी दृढ़ हो जाती। अतः यह सम्बन्ध उन्होंने स्वीकार कर लिया। विवाह में स्यमन्तक मणि भी उपहार के रूप में दी गई। पर कृष्ण को यह ज्ञात था कि इस मणि के प्रति कितनी तीव्र आसक्ति सत्राजित के मन में विद्यमान है। फिर यह भी आशंका थी कि मणि ले लेने पर अनेक लोग यही कहेंगे कि मणि के प्रलोभन से यह विवाह श्रीकृष्ण ने किया है अतः इस प्रकार की धारणाओं का निराकरण उन्होंने उस मणि को लौटाकर किया। यह सब श्रीकृष्ण की यथार्थवादी व्यवहारिक दृष्टि का प्रमाण है। इसी प्रकार भौमासुर के कारागार से मुक्त की गई सोलह हजार राजकन्याओं को स्वीकार कर लेना उनकी व्यापक और उदार दृष्टि का प्रमाण है। उन राजकन्याओं को समाज में कोई भी अन्य व्यक्ति स्वीकार नहीं कर सकता था। ऐसी स्थिति में श्री कृष्ण ने उन्हें स्वीकार कर विलक्षण उदारता का परिचय दिया। उन राजकन्याओं ने भी अपने उद्धारक कन्दर्प कमनीय कृष्ण को पति के रूप में पाकर स्वयं को धन्य माना।

इस सन्दर्भ में श्रीराम का स्मरण आना स्वाभाविक है। वे बहिरंग दृष्टि से देखने पर श्रीकृष्ण के समान अनुरागी नहीं प्रतीत होते। मदन मोहन सौन्दर्य के होते हुए भी वे चपल न लगकर गम्भीर प्रतीत होते हैं। वे स्वभाव से ही संकोची हैं पर अन्तर्मन में वे अनुराग की मूर्ति हैं। सभी प्राणियों के प्रति वे स्नेह और अपनत्व से भरे हुए हैं। किन्तु उनके अनुराग में भिन्नता है। श्री सीता के प्रति उनका अनन्यानुराग अप्रतिम है। वे एक पत्नीव्रती हैं और जब विशेष परिस्थितियों में "लोकाराधन तत्पर" श्रीराम को श्री सीता का परित्याग करना पड़ता है तब भी वे समग्र मन से उनके प्रति ही अनन्य निष्ठ हैं। यहाँ तक कि वे यज्ञ विधि में आवश्यक होने पर भी द्वितीय विवाह की कल्पना नहीं कर सकते। सीता की स्वर्ण प्रतिमा को ही विधि पालन के लिए वरण करते हैं। उनके लिए अतीत की स्नेह-भरी स्मृतियाँ ही यथेष्ट हैं। उन्होंने अतीत को हृदय में धारण करते हुए भी वर्तमान का सर्वश्रेष्ठ सदुपयोग किया। अतीत उनके हृदय की निधि

थी किन्तु बहिरंग जीवन को उन्होंने पूरी तरह से प्रजा के संरक्षण में समर्पित किया। वे आदर्शनिष्ठ हैं इसलिए वे ऐसा कोई कार्य नहीं कर सकते जिसमें सिद्धान्त से स्खलन प्रतीत हो। इसीलिए उनकी सारी प्रजा उनके चरित्र और आदर्श से अनुप्राणित है। न केवल भगवान राम अपितु सारी प्रजा एक पत्नीव्रत के आदर्श का पालन करती हुई अपने प्रभु के पथ की अनुगामिनी बनी—

एक नारि व्रत रत सब झारी।
ते मन वच क्रम पति हितकारी॥

श्रीकृष्ण के अनुराग में आन्तरिक विराग का दर्शन होता है। वे आत्म निष्ठ हैं। भगवान राम के विराग में आन्तरिक अनुराग की रसवन्ती प्रवाहित हो रही है वे लोकनिष्ठ हैं। भगवान राम का लोकनिष्ठ होना सार्थक है क्योंकि वे अपनी इच्छा के अनुकूल लोक निर्माण कर सकते हैं। अयोध्या से लेकर लंका तक किया गया उनका अभियान सर्वत्र उनके आदर्श की विजय का ध्वज वाहक बना। रामराज्य की स्थापना हुई पर प्रश्न तो यह है कि यदि लोक या समाज परिवर्तित न हो सके उस समय व्यक्ति का क्या कर्तव्य है। इसे हम एक नन्हें दृष्टांत के द्वारा यों कह सकते हैं कि एक गृहस्थ के जीवन में यह इच्छा तो स्वाभाविक ही है कि सारा परिवार, स्नेह आदर्श और एकता के सूत्र में आबद्ध हो और यदि ऐसा हो सके तो कहना ही क्या है। पर यदि ऐसा सम्भव न हो और वे परस्पर ईर्ष्या, मात्सर्य की भावना से भरे हुए हों उस समय एक विवेकी गृहपति क्या स्वयं को पीड़ा और पश्चात्ताप में डालकर अपने आत्म-सुख को विनष्ट हो जाने दे। वस्तुतः इसे हम गृहपति का त्याग न कहकर अविवेक ही कह सकते हैं। उस समय उसे एक संन्यासी की भाँति आचरण करना चाहिए। वह अपने आत्मानन्द में स्थित रहकर ही स्वयं को सुर-क्षित रख सकता है। भगवान राम ने अपने आदर्श के अनुकूल एक विशाल विश्व परिवार का निर्माण किया। पर श्रीकृष्ण के समक्ष भिन्न परिस्थिति थी। सारा समाज और देश कलह और कटुता की उस सीमा में पहुँच चुका था जहाँ से उसका लौटना सर्वथा असंभव था। अतः ऐसी स्थिति में अविचल श्रीकृष्ण अपने स्वरूप में स्थित दिखाई देते हैं। बहिरंग व्यवहार में सतत पुरुषार्थरत होते हुए भी वे नियति का स्वागत करने के लिए सहज भाव से प्रस्तुत हैं। भगवान राम की तुलना में श्रीकृष्ण प्रारम्भ

से ही सतत संघर्षों के बीच में पलते हुए दिखाई देते हैं। उनका प्राकट्य स्वयं विकट परिस्थितियों के बीच होता है। कंस के कठिन कारागार में बन्दी माता-पिता के समक्ष आविर्भूत होकर वे अपना संघर्षशील रूप प्रकट करते हैं। चमत्कारों का श्री गणेश यहीं से हो जाता है। प्रहरी सो जाते हैं। कारागार के कपाट खुल जाते हैं और फिर अर्धरात्रि को वासुदेव की गोदी में गोकुल तक होने वाली उनकी यात्रा एक रहस्यमय काव्य का सृजन करती है। छः मास की अवस्था में ही पूतना के प्राण लेकर अपनी अलौकिकता का परिचय देते हैं। व्रज पर आने वाली समस्त आपत्तियों को वे खेल-खेल में ही विनष्ट कर देते हैं। इन्द्र के द्वारा किए जाने वाले घोर जल वर्षण के बीच गोवर्धन को कनिष्ठिका उँगली पर उठाकर व्रज को संरक्षण प्रदान करने वाले श्रीकृष्ण की झाँकी किसे विस्मय विमुग्ध नहीं बना देती। उनकी सारी लीला पग-पग पर अलौकिक चमत्कारों से भरी हुई है। पर यह कैसा अद्भुत विरोधाभास है कि अलौकिक चमत्कारी श्रीकृष्ण लोकमानस के परिवर्तन में इस चमत्कार का प्रयोग नहीं करते।

दूसरी ओर भगवान राम का प्राकट्य किसी विलक्षण परिस्थिति में नहीं होता। वे सहज शान्त भाव से राजभवन में चक्रवर्ती सम्राट् के यहाँ प्रकट होते हैं। उनकी बाल्यावस्था संघर्ष शून्य है और कुल मिलाकर उनके चरित्र में चमत्कारों की वह विलक्षण परम्परा नहीं दिखाई देती जैसी श्रीकृष्ण चरित्र में पग-पग पर परिलक्षित होती है पर उनका सबसे बड़ा चमत्कार था सारे जन मानस को परिवर्तित कर देना। दोनों चरित्रों में दिखाई देने वाला यह अद्भुत विरोधाभास जीवन के दो छोरों को छूता है। नियति (भाग्य) और पुरुषार्थ का संघर्ष बड़ा पुराना है। दोनों के पक्ष और विपक्ष में बहुत कुछ कहा गया है और पुराण, इतिहास में दोनों ही सिद्धान्तों के पक्ष में दृष्टान्तों की कमी नहीं है। ऐसा लगता है जैसे अनादि सृष्टि की ही भाँति इन दोनों का संघर्ष सतत चलता ही रहता है। दिन और रात्रि के द्वन्द्व में प्रकाश और अन्धकार के संघर्ष में कौन विजयी होता है यह निर्णय देना सरल नहीं है। सूर्योदय को देखकर लगता है अन्धकार पराजित हुआ—

रबि मण्डल देखत लघु लागा।
उदय तासु त्रिभुवन तम भागा।।

पर सूर्योदय के बाद सूर्यास्त भी तो होता ही है—इसे हम अन्धकार

की विजय कह सकते हैं। एक की विजय और दूसरे की पराजय की आकांक्षा से क्या होने वाला है अतः समाज ने स्वभावतः दोनों को स्वीकार कर लिया है। वह दिन में कर्म करता है सृजन, संघर्ष और संकल्प की पूर्ति में लग जाता है। पर रात्रि में निष्क्रियता और विश्राम भी एक सत्य है। दिन हमें आँख खोलने की प्रेरणा देता है तो रात्रि नेत्र मूंदने का सन्देश देती है। दोनों ही जीवन के दो छोर हैं, पुरुषार्थ यदि दिन है तो नियति रात्रि है। हमें दोनों के दुरुपयोग से बचना है। यदि दिन में कोई निष्क्रियता और आलस्य में समय व्यतीत करे और रात्रि को चिन्ताओं के भार से सो न सके तो वह दोनों का दुरुपयोग कर रहा है। दिन में संसार की चिन्ता यदि कर्तव्य है तो रात्रि को सारी चिन्ताएँ छोड़ देना भी परमावश्यक है। भगवान राम दिन का स्वागत करते हैं तो श्रीकृष्ण रात्रि का। रामराज्य में नियति की व्यवस्थाएँ समाप्त हो गईं। काल कर्म स्वभाव और गुण का चक्र सृष्टि में चलता ही रहता है।

फिरत सदा माया कर प्रेरा।
काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥

किन्तु राम राज्य में उस पर विजय पा ली गई—

राम राज्य नभगेस सुनु सचराचर जग माहिं।
काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं॥

पर काल कर्म स्वभाव और गुण का यह चक्र सर्वदा के लिए समाप्त तो नहीं हो गया। राम राज्य की एक विशेष अवधि के बाद सृष्टि पुनः अपनी ही गति से चल रही थी। द्वापर युग नियति की विजय का युग है। महाभारत में पग पग पर काल और नियति की अनिवार्यता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। जो अवश्यम्भावी है उसे टाला नहीं जा सकता। उसे शान्त मन से स्वीकार कर लेना ही सच्चा विवेक है। अविचलित मन से नियति को स्वीकार कर लेना भी नियति पर विजय का ही एक भिन्न मार्ग है। एक आक्रमणकारी को शक्ति द्वारा पराजित किया ही जाता है किन्तु बधिक के आक्रमण को उसके प्रहार को हँसते हुए झेल लेने वाला वस्तुतः बधिक को ही परास्त कर देता है। क्योंकि विरोधी भय और कष्ट ही तो देना चाहता है। उसमें असफल होने पर उसे विजय में भी पराजय का ही अनुभव होता है अतः श्री कृष्ण के चरित्र को 'नियति' पर विजय का भिन्न मार्ग भी कह सकते हैं। उनका

नियतिवाद निष्क्रिय और असमर्थ व्यक्तियों का भाग्यवाद नहीं है। वे सतत पुरुषार्थ और कर्म की प्रेरणा देते हुये भी फल के विषय में उदासीन रहने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। ठीक इसी तरह भगवान राम का पुरुषार्थवाद अहंकारी व्यक्तियों का मिथ्याभिमान नहीं है। उनमें अहंकार का लेश भी नहीं है। वे अपनी सफलता को स्वयं के पुरुषार्थ का परिणाम बता कर आत्म विज्ञापन नहीं करते। वे तो उसे गुरुजनों के आशीर्वाद और सभी के सम्मिलित सहयोग का परिणाम मानते हैं।—

गुरु वशिष्ठ कुल पूज्य हमारे।
इनकी कृपा दनुज रन मारे॥

× × ×

तुम्हरे बल मैं रावन मारयों।
तिलक विभीषन कहँ पुनि सारयों॥

उपरोक्त वाक्यों में उनके शील का परिचय प्राप्त होता है। इस तरह श्री राम और श्री कृष्ण का पुरुषार्थवाद और नियतिवाद उन दोषों से सर्वथा शून्य है जो बहुधा इन वादियों में पाए जाते हैं।

भगवान श्री कृष्ण का सारा अवतार काल संघर्ष और रोमांचक गाथाओं से भरा हुआ है। उपनिषदों का 'चरैवेति' उनमें चरितार्थ हो रहा है। जन्म को बेला से लेकर लीला संवरण तक वे चलते ही रहे। युद्धों का तो कोई अन्त नहीं। लगता है उनका कोई वर्ष युद्ध शून्य नहीं है। व्रज में तो दैत्य राक्षसों का आक्रमण होता ही रहा पर मथुरा में ही कहाँ शान्ति रही। जरासन्ध ने ही अकेले मथुरा पर अठारह बार आक्रमण किया। सत्तह बार जरासन्ध को परास्त कर देने पर भी अठारहवीं बार वे पराजय स्वीकार कर लेते हैं। अपनी जन्मभूमि और राजधानी का परित्याग कर देने में उन्हें कोई संकोच नहीं होता। वे समुद्र तट पर जाकर दूर देश में पुरवासियों के साथ बस जाते हैं। वे उस राजपूती टेक का परिचय नहीं देते कि लड़कर भले ही समाप्त हो जाएँ पर पीछे नहीं हटेंगे। वे यह भी निर्णय कर सकते थे कि कितना भी संघर्ष क्यों न करना पड़े अपनी जन्मभूमि और राजधानी का त्याग नहीं करेंगे। पर उन्होंने वह मार्ग चुना जो बहिरंग दृष्टि से भीरुता का मार्ग प्रतीत होता है।

किन्तु उनके चरित्र का यह भी अनोखा सन्तुलन है। ईश्वर के रूप

में वे जरासन्ध को क्षण भर में समाप्त कर सकते थे यह बात तो अपने स्थान पर सत्य है ही पर लीला में वे एक भिन्न जीवन दर्शन प्रगट करते हैं। नई राजधानी का निर्माण स्वयं अपने आप में अनुपम चमत्कार था। लगता है वे ऊपर से जितने कर्मयोगी दिखाई देते हैं अपने अन्तर्मन में वे उतने ही बड़े संन्यासी हैं। जन्मभूमि की अतुलनीय महिमा है पर संन्यासी की कौन सी जन्मभूमि, वह जहाँ जाकर रुक जाय वही उसका स्थान है। उसे एक स्थान पर रुकना भी नहीं चाहिये। संन्यासी तो वही है जो आसक्ति का त्याग कर दे। उसमें देश काल व्यक्ति किसी के प्रति ममता और आसक्ति नहीं होती। सचमुच ही श्री कृष्ण के चरित्र में इन तीनों में से किसी के प्रति आसक्ति नहीं है। वृन्दावन से मथुरा और वहाँ से द्वारिका में जा बसना उनकी देश में अनासक्ति का प्रमाण है। काल और व्यक्ति के प्रति उनकी अनासक्ति का दर्शन होता है द्वारिका की अन्तिम लीला में।

महर्षि दुर्वासा का मुनि मण्डली के साथ द्वारिका में आगमन होता है। यह आगमन, काल और नियति का ही आगमन था। श्री कृष्ण के पुत्रों के हृदय में इन महात्माओं का उपहास उड़ाने का संकल्प उठता है। सन्तों के प्रति अपार सम्मान की भावना रखने वाले भगवान कृष्ण के पुत्रों के मन में इस प्रकार के विचार विडम्बना की पराकाष्ठा है। श्री कृष्ण के चरित्र का अद्भुत विरोधाभास फिर हमारे सामने आता है। विवाह की ही भाँति उनके पुत्रों की संख्या भी अद्भुत है। सोलह हजार एक सौ आठ रानियों में उनके प्रत्येक रानी से दस-दस पुत्र उत्पन्न हुए। रानियों और पुत्रों की यह संख्या एक घोर गृहासक्त व्यक्ति जैसा श्री कृष्ण का चित्र हमारे मन में उपस्थित करती है। पर अन्तर्मन में यहाँ भी वे सबकी ओर से उदासीन हैं। रानियों की इस विशाल संख्या में एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या और कलह का भाव विद्यमान था। कृष्ण अनेक रूप धारण कर उन सभी को सन्तुष्ट करने का प्रयास करते हैं। पुत्रों को लाड़ लड़ाते हैं। पर यह सब तो उनका वाह्य रूप था। अन्तर्मन में वे सर्वथा अनासक्त थे। कृष्ण सखा उद्धव के शब्दों में श्री कृष्ण ने अपने चरित्र के द्वारा सांख्य योग का स्वरूप प्रगट किया—

भगवानपि विश्वात्मा लोकवेदपथानुगः।
कामान् सिषेवे द्वार्वत्यामसक्तः सांख्यमास्थितः ॥१६॥

स्निग्धस्मितावलोकेन वाचा पीयूषकल्पया ।
चरित्रेणानवद्येन श्रीनिकेतेन चात्मना ॥२०॥
इमं लोकममुं चैव रमयन् सुतरां यदून् ।
रेमे क्षणदया दत्तक्षणस्त्रीगणसौहृदः ॥२१॥
तस्यैवं रममाणस्य संवत्सरगणान् बहून् ।
गृहमेधेषु योगेषु विरागः समजायत ॥२२॥
(श्रीमद्भागवत तृतीय स्कन्ध)

(विश्वात्मा श्री भगवान ने भी द्वारिकापुरी में रह कर लोक और वेद की मर्यादा का पालन करते हुए सब प्रकार के भोग भोगे किन्तु सांख्य योग की स्थापना करने के लिए उनमें कभी आसक्त नहीं हुए ॥१६॥ मधुर मुस्कान, स्नेहमयी चितवन, सुधामयी वाणी, निर्मल चरित्र तथा समस्त शोभा और सुन्दरता के निवास अपने श्री विग्रह से लोक-परलोक और विशेषतया यादवों को आनन्दित किया तथा रात्रि में अपनी प्रियाओं के साथ क्षणिक अनुरागयुक्त होकर समयोचित विहार किया और इस प्रकार उन्हें भी सुख दिया । ॥२०-२१॥ इस तरह बहुत वर्षों तक विहार करते-करते उन्हें गृहस्थ आश्रम सम्बन्धी भोग सामग्रियों से वैराग्य हो गया । ॥२२॥)

इन शब्दों में श्रीमद्भागवत में श्री कृष्ण के चरित्र की एक झाँकी प्रस्तुत की गई है। उन्होंने अपने पुत्रों के प्रति चाहे जितने वात्सल्य का परिचय दिया हो अन्तर्मन में वे उनसे भी असम्पृक्त थे । अतः श्री कृष्ण के आश्रय से दर्पित उनके पुत्रों के मन में यदि उच्छृङ्खलता की वृत्ति आ गई तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं था । लगता है जैसे ईश्वर सृष्टि का द्रष्टामात्र है और सृष्टि में रहने वाले प्रत्येक जीव ईश्वर के पुत्र होते हुए भी स्वच्छन्द आचरण का परिचय दे रहे हैं उसका ही एक लघु प्रतिरूप द्वारिका की लीला में प्रस्तुत किया गया है । मानों इस लीला के द्वारा यह सिद्ध किया गया कि सुख और सन्तोष के लिए ईश्वर से सम्बद्ध होना ही यथेष्ट नहीं है। उसके निकटस्थ होते हुए भी यदि व्यक्ति उच्छृङ्खल आचरण करे तो विनाश अवश्यम्भावी है । द्वारिका में यही हुआ । एक दिन यदुवंश के कुछ उद्दण्ड कुमार जाम्बवती नन्दन साम्ब को स्त्री के वेश में सजाकर ऋषियों के सामने ले गए। बनावटी नम्रता का अभिनय करते हुए उन्होंने ऋषियों से पूंछा 'इस सुन्दरी के गर्भ से पुत्र

का जन्म होगा अथवा पुत्री का।' मुनि मण्डली इस उपहास से क्रुद्ध हो उठी। उन्होंने कहा 'मूर्खों यह एक ऐसा मूसल पैदा करेगी जो तुम्हारे कुल का नाश करने वाला होगा।' इस तरह नियति का यह दुर्दमनीय रूप प्रगट हुआ जिसने समग्र यदुवंश का विनाश कर दिया। सृजन के साथ विनाश अवश्यम्भावी है पर विनाश और मृत्यु भी अनेक रूपों में आती है। एक व्यक्ति शान्त चित्त से भगवत् चिन्तन करता हुआ शरीर का परित्याग करता है और ऐसी मृत्यु की चारों ओर सराहना होती है। एक योद्धा रण क्षेत्र में किसी पवित्र उद्देश्य के लिए अपना बलिदान कर देता है और लोक उसकी कीर्ति का गायन करता है। पर यदुवंशियों का विनाश जिस रूप में हुआ उसमें निरर्थकता को छोड़कर सौन्दर्य का लेश भी नहीं है। शायद ही इतिहास में किसी वंश का इतना निरर्थक विनाश हुआ हो। महाभारत काल में लड़ी जाने वाली सारी लड़ाइयों में कोई न कोई उद्देश्य था पर यदुवंश का विनाश तो एक निरर्थक संघर्ष को छोड़ और कुछ था ही नहीं। प्रभास क्षेत्र में हवन पूजन के पश्चात् सुरापान कर उन्होंने जिस आचरण हीनता का परिचय दिया वह अद्भुत है। सुरा पीकर वे उन्मत्त हो उठते हैं और परस्पर एक दूसरे पर प्रहार करने लग जाते हैं। साम्ब के उदर से जो मूसल प्राप्त हुआ उसे नियति से बचने के लिए चूर्ण के रूप में समुद्र तट पर डाल दिया गया था। उससे उत्पन्न घास ही आज शस्त्र के रूप में एक दूसरे के विरुद्ध प्रयुक्त की जा रही थी। मरने-मारने पर तुले हुए इन योद्धाओं के बुद्धिनाश का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण तब मिला जब श्री कृष्ण द्वारा रोके जाने पर इन योद्धाओं ने स्वयं उन पर भी आक्रमण कर दिया और तब स्वयं प्रभु कालात्मा बन कर उनके विनाश पर तुल गए। सारे यदुवंशियों का विनाश कुछ क्षणों में ही हो गया। सारे विश्व के इतिहास में मृत्यु का इतना भयावना और दुःखान्त नाट्य कभी नहीं खेला गया। निरुद्देश्य मृत्यु की महागाथा को पढ़कर करुणा की अपेक्षा ग्लानि का ही अधिक बोध होता है। ऐसा क्यों हुआ यह प्रश्न किसी भी सहृदय के मन में उठना स्वाभाविक है। श्रीमद्भागवत में इस प्रश्न का उत्तर देने की चेष्टा की गई है। महर्षि व्यास के अनुसार इस नियति में भी श्री कृष्ण का संकल्प कार्य कर रहा था। निम्नलिखित श्लोकों में वही व्याख्या प्रस्तुत की गई है—

कृत्वा दैत्यवधं कृष्णः सरामो यदुभिर्वृतः।
भुवोऽवतार यद् भारं जविष्ठं जनयन् कलिम् ॥1॥

ये कोपिताः सुबहु पाण्डुसुताः सपत्नै-
दुर्द्यूत हेलनक च ग्रहणाविभिस्तान् ।
कृत्वा निमित्तमितरेतरतः समेतान्
हत्वा नृपान् निरहरत् क्षितिभारमीशः ॥२॥
भू भार राज पृतना यदुभिर्निरस्य
गुप्तैः स्वबाहुभिरचिन्त यदप्रमेयः ।
मन्येऽवनेर्ननु गतोऽप्यगतं हि भारं
यद् यादवं कुलमहो अविषह्यमास्ते ॥३॥
नैवान्यतः परिभवोऽस्य भवेत् कथंञ्चि-
न्मसंश्रयस्य विभवोन्नहनस्थ नित्यम् ।
अन्तः कलिं यदुकुलस्य विधाय वेणु-
स्तम्बस्य वह्निमिव शान्तिमुपैमि धाम ॥४॥
एवं व्यवसितो राजन् सत्यसंकल्पईश्वरः ।
शापव्याजेन विप्राणां संजह्रे स्वकुलं विभुः ॥५॥

व्यासनन्दन भगवान श्री शुकदेव जी कहते हैं—

परीक्षित ! भगवान श्री कृष्ण ने बलराम जी तथा अन्य यदुवंशियों के साथ मिलकर बहुत से दैत्यों का संहार किया । तथा कौरव और पाण्डवों में भी शीघ्र मार-काट मचाने वाला अत्यन्त प्रबल कलह उत्पन्न करके पृथ्वी का भार उतार दिया ॥१॥ कौरवों ने कपटपूर्ण जुयें से तरह-तरह के अपमानों से द्रौपदी के केश खींचने आदि अत्याचारों से पाण्डवों को अत्यन्त क्रोधित कर दिया था । उन्हीं पाण्डवों को निमित्त बनाकर भगवान् श्री कृष्ण ने दोनों पक्षों में एकत्र हुये राजाओं को मरवा डाला और इस प्रकार पृथ्वी का भार हल्का कर दिया ॥२॥ अपने बाहुबल से सुरक्षित यदुवंशियों के द्वारा पृथ्वी के भार—राजा और उनकी सेना का विनाश करके प्रमाणों के द्वारा ज्ञान के विषय न होने वाले भगवान श्री कृष्ण ने विचार किया कि लोक दृष्टि से पृथ्वी का भार दूर हो जाने पर भी वस्तुतः मेरी दृष्टि से अभी तक दूर नहीं हुआ क्योंकि जिस पर कोई विजय नहीं प्राप्त कर सकता वह यदुवंश अभी पृथ्वी पर विद्यमान है ॥३॥ यह यदुवंश मेरे आश्रित है और हाथी, घोड़े, जनबल, धनबल आदि विशाल वैभव के कारण उच्छृङ्खल हो रहा है अन्य किसी देवता आदि से भी इसकी किसी प्रकार पराजय नहीं हो सकती । बाँस के

वन में परस्पर संघर्ष से उत्पन्न अग्नि के समान इस यदुवंश में भी परस्पर कलह खड़ा करके मैं शान्ति प्राप्त कर सकूंगा और उसके बाद अपने धाम में जाऊँगा ॥४॥ राजन् भगवान सर्व शक्तिमान और सत्य संकल्प हैं। उन्होंने इस प्रकार अपने मन में निश्चय करके ब्राह्मणों के शाप के बहाने अपने ही वंश का संहार कर डाला ॥५॥

इन श्लोकों में श्री कृष्ण की अनासक्ति और तटस्थ दृष्टि का बड़ा उदार चित्र सामने आता है। अपने विरोधियों को पृथ्वी का भार समझ कर उन्हें मिटाने का संकल्प करना तो सरल है पर अपने ही स्वजनों को पृथ्वी का भार समझ कर उन्हें भी मिटा देने का संकल्प वैराग्य की पराकाष्ठा है। अपने स्वजनों का दोष या तो व्यक्ति को दिखाई ही नहीं देता है, यदि कदाचित् दिखाई भी दे तो उसे दण्ड के स्थान पर बचाने का ही मन होता है। पर कृष्ण में न्यायवृत्ति की पराकाष्ठा है। वे अपने समाज को ही नहीं पुत्रों को भी भार के रूप में देखते हैं। अतः उन्होंने समत्व की पराकाष्ठा का परिचय देते हुए निर्दय दण्ड की व्यवस्था की। लगता है वे इस विनाश को कोई आदर्शवादी पुट नहीं देना चाहते थे। मृत्यु का उन्होंने उसके समग्र भयावने रूप के साथ आह्वान किया। यदुवंशियों का पारस्परिक संघर्ष सर्वथा निरुद्देश्य और निरर्थक था। न उसमें धर्म अधर्म का प्रश्न था और न तो न्याय अन्याय का और यह अंतरंग दृष्टि से ठीक ही था। जीवन की सार्थकता और उद्देश्य तो ईश्वर की उपलब्धि है। यह तो यदुवंशियों के दुर्भाग्य की पराकाष्ठा थी कि उन्होंने श्री कृष्ण को पा लेने के बाद भी स्वयं को उस योग्य सिद्ध नहीं किया। वे कृष्ण को पाकर गर्वीले और उच्छृङ्खल बन गए। भक्तों की नम्रता के स्थान पर उनमें मदान्धता आ गई। इसलिए इस महान् आदर्श का इतना दुरुपयोग करने के बाद किसी आदर्श के लिए मर-मिटने का कोई अर्थ ही नहीं था। यदुवंशियों में उद्धव ही इसके अपवाद थे। उन्होंने सच्चे अर्थों में श्री कृष्ण की भक्ति प्राप्त की थी। इसलिए उन्हें श्री कृष्ण ने बदरिकाश्रम जाने की आज्ञा प्रदान की।

किन्तु इस सर्वनाश का पटाक्षेप तब और भी करुण हो उठता है जब अर्जुन जैसा धनुर्धर योद्धा यदुवंश और स्त्रियों की भी रक्षा नहीं कर पाता। महाप्रयाण के पूर्व श्री कृष्ण ने अर्जुन को यह सन्देश पहुँचाया था कि वह अवशिष्ट यदुवंशियों के साथ सम्पत्ति और स्त्रियों को सुरक्षित

हस्तिनापुर ले जायँ क्योंकि कुछ ही दिनों में समुद्र के द्वारा द्वारिका पुरी नष्ट हो जाएगी। अर्जुन जब द्वारिका के अवशिष्ट लोगों को लेकर हस्तिनापुर की ओर लौट रहा था तब मार्ग में जंगली लोगों ने उसे घेर लिया। किन्तु गाण्डीवधारी अपनी धनुष की डोरी तक न चढ़ा सका। उसकी आँखों के सामने सम्पत्ति और स्त्रियाँ लूट ली गईं। व्यथा और पीड़ा से भरा अर्जुन रो पड़ा अपनी असमर्थता पर। रोते हुए उसने धर्म-राज युधिष्ठिर के समक्ष जिन शब्दों में इस घटना का वर्णन किया वह किसी भी सहृदय को रुलाए बिना नहीं मानता। उसे एक-एक करके श्री कृष्ण की लीलाओं का स्मरण आ रहा था। अपने प्रति किए गए उनके अमित उपकारों की याद तो उसे आ ही रही थी पर उसे लगता था कि उसका वह प्राण सखा भीतर से इतना निर्मम और विरागी होगा इसे वह कभी न जान पाया। महाभारत के महायुद्ध में विजय दिलाने वाला उसका सखा उसे इस बुरी तरह पराजित भी करा सकता है यह उसकी कल्पना से बाहर था। लज्जा ग्लानि व्यथा की वह मूर्ति बन गया। उसे जीवन भार लगने लगा। श्रीमद्भागवत में इसका बड़ा ही करुण चित्र प्रस्तुत किया गया है।

वञ्चितोऽहं महाराज हरिणा बन्धुरूपिणा।
येन मेऽपहृतं तेजो देवविस्मापनं महत् ॥५॥
यस्य क्षणवियोगेन लोको ह्यप्रिय दर्शनः।
उक्थेन रहितो ह्येष मृतक प्रोच्यते यथा ॥६॥
यत्संश्रयाद् द्रुपदगेहमुपागतानां
राज्ञां स्वयंवरमुखे स्मरदुर्मदानाम्।
तेजो हृतं खलु मयाभिहतश्च मत्स्यः
संजीकृतेन धनुषाधिगता च कृष्णा ॥७॥
यत्संनिधावहमु खाण्डव मग्न येऽदा—
मिन्द्रं च सामरगणं तरसा विजित्य।
लब्धा सभा मयकृताद्भुत शिल्प माया
दिग्भ्योऽहरन्नृपतयो बलि मध्वरे ते ॥८॥
यत्तेजसा नृप शिरोऽङ्घ्रि महन्मखार्थे
आर्योऽनुजस्तव गजायुतसत्ववीर्यः।
तेनाहृताः प्रमथनाथमखाय भूपा
यन्मोचितास्तदनयन् बलिमध्वरे ते ॥९॥

पत्न्यास्तवाधि मखक्लृप्तमहाभिषेक—
श्लाघिष्ठचारुकबरं कितवैः सभायाम्।
स्पृष्टं विकीर्य पदयोः पतिताश्रुमुख्या
यस्तत्स्त्रियोऽकृत हतेश विमुक्तकेशाः ॥१०॥
यो नो जुगोप वन मेत्य दुरन्त कृच्छ्राद्
दुर्वाससोऽरिविहितादयुताग्रभुग्यः।
शाकान्न शिष्ट मुपयुज्य यतस्त्रिलोकीं
तृप्तामममंस्त सलिले विनिमग्नसङ्घः ॥११॥
यत्तेजसाथ भगवान् युधि शूलपाणि—
र्विस्मापितः सगिरिजोऽस्त्र मदान्निजं मे।
अन्येपि चाहममुनैव कलेवरेण
प्राप्तो महेन्द्रभवने महदासनार्धम् ॥१२॥
तत्रैव मे विहरतो भुजदण्ड युग्म
गाण्डीवलक्षण मरातिवधाय देवाः।
सेन्द्राः श्रिता यदनुभावितमाज मीढ
तेनाहमद्य मुषितः पुरुषेण भूम्ना ॥१३॥
यद्बान्धवः कुरुबलाब्धिमनन्तपार—
मेको रथेन ततरेऽहमतार्यसत्वम्।
प्रत्याहृतं बहु धनं च मया परेषां
तेजास्पदं मणिमयं च हृतं शिरोभ्यः ॥१४॥
यो भीष्म कर्ण गुरुशल्य चमूष्वदभ्र—
राजन्यवर्यरथमण्डलमण्डितासु।
अग्रेचरो मम विभो रथयूथपाना—
मायुर्मनांसि च दृशा सह ओज आच्र्छत् ॥१५॥
यद्दोष्षु मा प्राणिहितं गुरुभीष्म कर्ण—
नप्तृत्रिगर्तशलसैन्धवबाह्लिकाद्यैः।
अस्त्राण्य मोघ महिमानि निरुपितानि
नो पस्पृशुर्नृ हरिदास मिवा सुराणि ॥१६॥
सौत्ये वृतः कुमतिनाऽऽत्मद ईश्वरो मे
यत्पादपद्ममभवाय भजन्ति भव्याः।
मां श्रान्तवाहमरयो रथिनो भुविष्ठं
न प्राहरन् यदनुभाव निरस्त चित्ताः ॥१७॥

नर्माण्युदाररुचिरस्मितशोभितानि
हे पार्थ हेऽर्जुन सखे कुरुनन्दनेति ।
संजल्पितानि नरदेव हृदिस्पृशानि
स्मर्तुर्लुठन्ति हृदयं मम माधवस्य ॥१८॥
शय्यासनाटनविकत्थनभोजनादि—
ष्वैक्याद्वयस्य ऋतवानिति विप्रलब्धः ।
सख्युः सखेव पितृवत्तनयस्य सर्वं
सेहे महान्महितया कुमतेरघंमे ॥१९॥
सोहं नृपेन्द्र रहितः पुरुषोत्तमेन
सख्या प्रियेण सुहृदा हृदयेन शून्यः ।
अध्वन्युरुक्रम परिग्रहमङ्ग रक्षन्
गोपैरसद्भिरबलेव विनिर्जितोऽस्मि ॥२०॥
तद्वै धनुस्त इषवः स रथो हयास्ते
सोऽहं रथी नृपतयो यत आनंमन्ति ।
सर्वं क्षणेन तदभूदसदीशरिक्तं
भस्मन् हुतं कुहकराद्धमिवोप्तमूष्याम् ॥२१॥

अर्जुन बोले—महाराज ! मेरे ममेरे भाई अथवा अत्यन्त घनिष्ट मित्र का रूप धारण कर श्री कृष्ण ने मुझे ठग लिया । मेरे जिस प्रबल पराक्रम से बड़े-बड़े देवता भी आश्चर्य में डूब जाते थे उसे श्री कृष्ण ने मुझसे छीन लिया ॥५॥ जैसे यह शरीर प्राण से रहित होने पर मृतक कहलाता है, वैसे ही उनके क्षण भर के वियोग से यह संसार अप्रिय दीखने लगता है ॥६॥ उनके आश्रय से द्रौपदी स्वयंवर में राजा द्रुपद के घर आए हुए कामोन्मत्त राजाओं का तेज मैंने हरण कर लिया, धनुष पर बाण चढ़ा कर मत्स्य वेध किया और इस प्रकार द्रौपदी को प्राप्त किया था ॥७॥ उनके सानिध्य मात्र से मैंने समस्त देवताओं के साथ इन्द्र को अपने बल से जीत कर अग्निदेव को उनकी तृप्ति के लिए खाण्डव बन कर दान कर दिया और मय दानव की निर्माण की हुई अलौकिक कला कौशल से युक्त मायामयी सभा प्राप्त की और आपके यज्ञ में सब ओर से आ-आकर राजाओं ने अनेकों प्रकार की भेटें समर्पित कीं ॥८॥ दस हजार हाथियों की शक्ति और बल से सम्पन्न आपके इन छोटे भाई भीमसेन ने उन्हीं की शक्ति से राजाओं के सिर पर पैर रखने वाले अभिमानी जरासन्ध का वध किया था । तदनन्तर उन्हीं भगवान ने उन बहुत से राजाओं को

मुक्त किया जिनको जरासन्ध ने महाभैरव यज्ञ में बलि चढ़ाने के लिए बन्दी बना रक्खा था। उन सब राजाओं ने आपके यज्ञ में अनेकों प्रकार के उपहार दिए थे ॥९॥ महारानी द्रौपदी राजसूय यज्ञ के महान् अभिषेक से पवित्र हुए अपने उन सुन्दर केशों को जिन्हें दुष्टों ने भरी सभा में छूने का साहस किया था, बिखेर कर तथा आँखों में आँसू भर कर जब श्री कृष्ण के चरणों में गिर पड़ी, तब उन्होंने उसके सामने उस घोर अपमान का बदला लेने की प्रतिज्ञा करके उन धूर्तों की स्त्रियों की ऐसी दशा कर दी कि वे विधवा हो गईं और उन्हें अपने केश अपने हाथों खोल देने पड़े ॥१०॥ वनवास के समय हमारे बैरी दुर्योधन के षड़यन्त्र से दस हजार शिष्यों को साथ बैठाकर भोजन करने वाले महर्षि दुर्वासा ने हमें कठिन संकट में डाल दिया था, उस समय उन्होंने द्रौपदी के पात्र में बची हुई शाक की एक पत्ती का ही भोग लगाकर हमारी रक्षा की। उनके ऐसा करते ही नदी में स्नान करती हुई मुनि मण्डली को ऐसा प्रतीत हुआ मानों उनकी तो बात ही क्या सारी त्रिलोकी ही तृप्त हो गई है ॥११॥ उनके प्रताप से मैंने युद्ध में पार्वती सहित भगवान शंकर को आश्चर्य में डाल दिया तथा उन्होंने मुझको अपना पशुपत नामक अस्त्र दिया, साथ ही दूसरे लोकपालों ने भी प्रसन्न होकर अपने-अपने अस्त्र मुझे दिए और तो और उनकी कृपा से मैं इसी शरीर से स्वर्ग में गया और देवराज इन्द्र की सभा में उनके बराबर आधे आसन पर बैठने का सम्मान मैंने प्राप्त किया ॥१२॥ उनके आग्रह से जब मैं स्वर्ग में ही कुछ दिनों तक रह गया, तब इन्द्र के साथ समस्त देवताओं ने मेरी इन्हीं गाण्डीव धारण करने वाली भुजाओं का निवात कवच आदि दैत्यों को मारने के लिए आश्रय लिया। महाराज ! यह सब जिनकी महती कृपा का फल था उन्हीं पुरुषोत्तम भगवान श्री कृष्ण ने आज मुझे ठग लिया ॥१३॥

महाराज ! कौरवों की सेना भीष्म, द्रोण आदि अजेय महामत्स्यों से पूर्ण अपार समुद्र के समान कठिन थी, परन्तु उनका आश्रय ग्रहण करके अकेले ही रथ पर सवार हो मैं उसे पार कर गया, उन्हीं की सहायता से, आपको याद होगा मैंने शत्रुओं से राजा विराट का सारा गोधन तो वापस ले ही लिया, साथ ही उनके शिरों पर से चमकते हुए मणिमय मुकुट तथा अंगों के अलंकार तक छीन लिए ॥१४॥ भाई जी ! कौरवों की सेना भीष्म, कर्ण, द्रोण, शल्य तथा अन्य बड़े-बड़े राजाओं और क्षत्रिय वीरों के रथों से शोभायमान थी। उसके सामने मेरे आगे-आगे चलकर वे अपनी दृष्टि

से ही उन महारथी यूथपतियों की आयु, मन, उत्साह और बल को छीन लिया करते थे ॥१५॥ द्रोणाचार्य, भीष्म, कर्ण, भूरिश्रवा, सुशर्मा, शल्य जयद्रथ और बाह्लीक आदि वीरों ने मुझ पर अपने कभी न चूकने वाले अस्त्र चलाए थे, परन्तु जैसे हिरण्यकश्यपु आदि दैत्यों के अस्त्र-शस्त्र भगवद् भक्त प्रह्लाद का स्पर्श नहीं करते थे, वैसे ही उनके अस्त्र-शस्त्र मुझे छू तक नहीं सके। यह श्री कृष्ण के भुजदण्डों की छत्रछाया में रहने का ही प्रभाव था ॥१६॥ श्रेष्ठ पुरुष संसार से मुक्त होने के लिए जिनके चरण कमलों का सेवन करते हैं, अपने आप तक को दे डालने वाले उन भगवान को मुझ दुर्बुद्धि ने सारथि तक बना डाला। अहा ! जिस समय मेरे घोड़े थक गए थे और मैं रथ से उतर कर पृथ्वी में खड़ा था, उस समय बड़े-बड़े महारथी शत्रु भी मुझ पर प्रहार न कर सके क्योंकि श्री कृष्ण के प्रभाव से उनकी बुद्धि मारी गयी थी ॥१७॥ महाराज ! माधव के उन्मुक्त और मधुर मुस्कान से युक्त विनोद भरे एवं हृदयस्पर्शी वचन और उनका मुझे पार्थ, अर्जुन, सखा, कुरुनन्दन आदि कहकर पुकारना, मुझे याद आने पर मेरे हृदय में उथल-पुथल मचा देते हैं ॥१८॥ सोने, बैठने, टहलने और अपने सम्बन्ध में बड़ी-बड़ी बातें करने तथा भोजन आदि में हम प्रायः एक साथ ही रहा करते थे किसी-किसी दिन मैं व्यंग्य से उन्हें कह बैठता 'मित्र ! तुम तो बड़े सत्यवादी हो ! उस समय भी वे महापुरुष अपनी महानुभवता के कारण, जैसे मित्र अपने मित्र का और पिता अपने पुत्र का अपराध सह लेता है, उसी प्रकार मुझ दुर्बुद्धि के अपराधों को सह लिया करते थे ॥१९॥ महाराज ! जो मेरे सखा, प्रिय मित्र, नहीं-नहीं मेरे हृदय ही थे उन्हीं पुरुषोत्तम भगवान से मैं रहित हो गया हूँ। भगवान की पत्नियों को द्वारिका से अपने साथ ला रहा था परन्तु मार्ग में दुष्ट गोपों ने मुझे एक अबला की भाँति हरा दिया और मैं उनकी रक्षा न कर सका ॥२०॥ वही मेरा गाण्डीव धनुष है, वे ही बाण हैं, वही रथ हैं, वही घोड़े हैं और वही मैं अर्जुन हूँ जिसके सामने बड़े-बड़े राजा लोग सिर झुकाया करते थे। श्री कृष्ण के बिना ये सब एक ही क्षण में नहीं के समान सार शून्य हो गए ठीक उसी तरह जैसे भस्म में डाली हुई आहुति कपट भरी सेवा और ऊसर में बोया गया बीज व्यर्थ जाता है ॥२१॥

पर इस कठिन व्यथा के क्षणों के बाद अचानक अर्जुन का हृदय प्रशान्त हो गया महाभारत के युद्ध में उपदिष्ट गीता के मर्म को आज

वह पूरी तरह समझ गया। विशेष परिस्थिति में श्रुत उस उपदेश को उस समय केवल सार रूप में उसने आज्ञा पालन के रूप में ही लिया था। वह तात्कालिक आज्ञा थी "मामनुस्मर युद्धाच" लड़ो। आज उसे यह प्रत्यक्ष दिखाई देने लगा कि युद्ध में श्री कृष्ण ने जो उपदेश वांणी के माध्यम से दिया था उन्होंने अपने समग्र चरित्र के माध्यम से उसे व्यवहारिक रूप में चरितार्थ कर दिखाया। श्री कृष्ण का सारा जीवन ही गीता की सच्ची व्याख्या है। गीता का मर्म ढूँढ़ने वालों को गीता का वास्तविक उद्देश्य समझने के लिए केवल गीता के श्लोकों का आश्रय न लेकर उनके चरित्र के माध्यम से हृदयगंम करना चाहिए। कठिनतम पीड़ा के इन क्षणों में गीता का ज्ञान सार्थक हुआ। अर्जुन सच्चे अर्थों में मोह मुक्त हो गया।

दूसरी ओर भगवान राम के जीवन दर्शन और चरित्र में यहाँ भी भिन्नता है। देश काल और व्यक्ति के प्रति वे अनासक्त होते हुये भी उदासीन नहीं है। श्री कृष्ण के मथुरा त्याग की तुलना हम भगवान राम के अयोध्या त्याग से कर सकते हैं। मथुरा के त्याग में परिस्थितियों की जो बाध्यता है अयोध्या के परित्याग में उसका सर्वथा अभाव है। यहाँ तो पिता जी के वचनों की रक्षा के लिए वे स्वेच्छा से अयोध्या के वैभव-विलास का परित्याग कर देते हैं। उस समय की सारी परिस्थितियाँ उनके अनुकूल थीं। वे बड़ी सरलता से अयोध्या के राज्य पर अधिकार कर सकते थे। सारी प्रजा उनके पक्ष में थी स्वयं महाराज दशरथ की भी यही अभिलाषा थी। किन्तु धर्म के लिए बड़े से बड़ा त्याग भी श्री राम के चरित्र का अंग है। उन्हें लगता है लोक कल्याण के लिए उससे अच्छा कोई सुअवसर नहीं हो सकता। उन्हें माँ की इस आज्ञा पालन करने में अपरिमित प्रसन्नता हुई।

मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥

भरतु प्रान प्रिय पावहिं राजू।
बिधि सब बिधि मोहि मनसुख आजू॥

कैकेयी अम्बा के हृदय में मन्थरा ने अनेक कुशंकाओं की सृष्टि कर दी थी इसीलिए उन्होंने श्री भरत के राज्य को सुस्थिर बनाने के लिए दो वरदान माँगे। उन्हें यह भय था कि श्री भरत को राज्य दिए जाने पर

यदि राम अयोध्या में रहे तो सम्भव है भरत को संकोच का अनुभव हो या प्रजा ही श्री राम के पक्ष में विद्रोही बन जाय। अतः भरत के राज्याभिषेक से पहले ही राम को वन चले जाना चाहिए।

होतु प्रातु मुनि बेष धरि जौं न रामु बन जाहिं।
मोर मरनु राउर अजस नृप समुझिअ मन माहिं॥

'मुनि वेष' में वन भेजने का आग्रह भी सोद्देश्य था। कैकेयी को लगा हो सकता है महाराज श्री दशरथ श्री राम के साथ वन में भी राज्य सामग्री भेज दें और वहाँ राम अपने बाहुबल से एक नया राज्य स्थापित कर लें। यह राज्य अयोध्या का प्रतिद्वन्दी बन कर भविष्य में भरत राज्य के लिए संकट बन सकता है। भरत राज्य को निष्कंटक रखने के लिए ही यह उनकी दूरगामी योजना थी। भगवान राम का मन इन कुशंकाओं से शून्य था अतः माँ की आशंका को मिटाने के लिए उन्होंने तत्काल मुनिवेष धारण कर लिया। राज्य वैभव श्रृंगार सभी का परित्याग कर देने के बाद भी धनुष बाण का न परित्याग करते हुए उन्होंने अपने जीवन दर्शन का ही परिचय दिया। साधारणतया मुनिवेष से धनुष बाण की कोई संगति न थी पर भगवान राम अपनी अनासक्ति की सीमाओं को स्पष्ट कर देते हैं। व्यक्तिगत स्वार्थ और सत्ता के लिए वे उदासीन रहेंगे किन्तु लोक कल्याण से उदासीनता उन्हें स्वीकार नहीं है। उन्होंने मुनिवेष माँ की आशंकाओं को दूर करने के लिए ग्रहण किया था। इसी सारार्थ में उन्होंने इसका प्रयोग भी किया। विश्व इतिहास का सबसे बड़ा युद्ध "राम रावणोर्युद्ध राम रावण योरिव" उन्होंने मुनिवेष में लड़ा। अधर्म अन्याय और अत्याचार से लोक का संरक्षण वे अपना सबसे बड़ा कर्त्तव्य मानते हैं।

इतना ही नहीं अयोध्या के राज्य के प्रति उनकी अनासक्ति भी भिन्न प्रकार की है। इसीलिए वन में रहते हुए भी वे अयोध्या की स्मृति से व्याकुल हो जाते हैं।

जब जब राम अवध सुधि करहीं।
तब तब बारि बिलोचन भरहीं॥
सुमिरि मातु पितु परिजन भाई।
भरतु सनेहु सील अधिकाई॥

कृपा सिंधु प्रिय होंहि दुखारी।
धीरजु धरहिं कुसमउ बिचारी ।।

इसका स्पट तात्पर्य यही है कि वे सत्ता से अनासक्त होते हुए भी स्नेह के प्रति अनासक्त नहीं है। अयोध्या की भूमि और वहाँ के निवासियों से उन्हें अगाध स्नेह है। इसीलिए वे देश के एक छोर से दूसरे छोर तक पैदल परिभ्रमण करते हुए भी अयोध्या की स्मृतियों को अपने मन से संजोए रहते हैं। लंका विजय के पश्चात् श्री अवध की पावन भूमि में प्रविष्ट होते ही पुष्पकारूढ़ श्री रामभद्र पुलकित हो उठते हैं। उनकी आँखों से अश्रु छलक उठता है। वे अपने सहचर मित्रों को अपनी जन्म भूमि की महिमा सुनाते हुए भावाभिभूत हो उठते हैं। स्वर्णमयी लंका की तो बात ही क्या वैकुण्ठ का वैभव भी उन्हें जन्मभूमि की धूल के सामने अल्प प्रतीत होता है।

सीता सहित अवध कहुँ कीन्ह कृपाल प्रनाम।
सजल नयन तन पुलकित पुनि पुनि हरषित राम ।।

× × ×

सुनु कपीस अंगद लंकेसा।
पावन पुरी रुचिर यह देसा ।।
जद्यपि सब बैकुंठ बखाना।
बेद पुरान बिदित जगु जाना ।।
अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ।
यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ ।।
जन्म भूमि मम पुरी सुहावनि।
उत्तर दिसि बह सरजू पावनि ।।
जा मज्जन ते बिनहिं प्रयासा।
मम समीप नर पावहिं बासा ।।
अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी।
मम धामदा पुरी सुख रासी ।।
हरषे सब कपि सुनि प्रभु बानी।
धन्य अवध जो राम बखानी ।।

भगवान राम का अयोध्यावासियों के प्रति जो प्रगाढ़ प्रेम है उसे वे

छिपाते नहीं। गोस्वामी जी तो कहते हैं प्रभु की अपने पुरवासियों के प्रति असीम ममता थी।

प्रनवउँ पुर नर नारि बहोरी।
ममता जिन पर प्रभुहिं न थोरी॥

आध्यात्मिक जीवन में आसक्ति और ममता की बहुधा निन्दा की गई है। स्वयं रामचरितमानस के अनेक प्रसंगों में ममता के दोषों को गिनाया गया है। कहीं उसकी तुलना अन्धकार भरी रात्रि से की गई है तो कहीं उसके लिए 'दद्रु रोग' शब्द का प्रयोग किया गया है।

ममता तरुन तमी अँधियारी।
राग द्वेष उलूक सुखकारी॥
तब लगि बसत जीव मन माँही।
जब लगि प्रभु प्रताप रबि नाहीं॥

× × ×

ममता दादु कंडु इरषाई।
हरष बिषाद गरह बहुताई॥

इस सन्दर्भ में श्री राम में ममता की स्वीकृति अद्‌भुत सी लगती है पर विचार करने पर यह स्पष्ट है कि श्री राघवेन्द्र की ममता कितनी विलक्षण है। पहला प्रश्न तो यह है कि 'ममता' की इतनी निन्दा क्यों की जाती है? तात्विक दृष्टि से यही उत्तर दिया जा सकता है कि "वह यथार्थ नहीं है इसलिए त्याज्य है"। जब हम किसी व्यक्ति या वस्तु को अपना मानते हैं तब यह अनाधिकार चेष्टा होती है। व्यक्ति या वस्तु जो कुछ भी है उसके एक मात्र स्वामी प्रभु हैं अतः जीव का किसी वस्तु से ममत्व जोड़ना धृष्टता है। ममता का व्यवहारिक पक्ष भी समस्या मूलक है। जब हम किसी व्यक्ति या वस्तु से ममता जोड़ते हैं तब परिणाम में मानसिक अशान्ति और दुःख छोड़कर कुछ उपलब्ध नहीं होता। पदार्थ और व्यक्ति सभी नाशवान हैं अतः जब हम किसी व्यक्ति से ममता जोड़ते हैं तब हम उसे सदा के लिए अपना और अपने मनोकूल चलाने की चेष्टा करते हैं यह दोनों ही असंभव है। अतः अन्त में दुःख और क्षोभ ही पल्ले पड़ता है। अतः व्यवहारिक दृष्टि से भी ममता त्याज्य है। ममता का एक दूसरा पक्ष भी है। ममता के द्वारा व्यक्ति के अतःकरण में द्वैत की

वृद्धि होती है। जिसके प्रति ममता होती है उसके प्रति प्रीति और पक्षपात का उदय होता है। जिनके प्रति ममता नहीं होती उनमें परायापन और द्वेष सक्रिय हो जाता है। ऐसी स्थिति में यह राग और द्वेष संघर्ष का भी हेतु बन जाता है। भगवान राम के चरित्र में ममत्व के इन दोषों का सर्वथा अभाव है। तात्विक दृष्टि से उनकी ममता सर्वथा यथार्थ है क्योंकि ईश्वर के रूप में वे ही समस्त ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं। व्यवहारिक दृष्टि से भी उनकी ममता कल्याणमयी है क्योंकि वे जिनसे ममता करते हैं उन्हें अपने मनोकूल चलाने की क्षमता भी उनमें विद्यमान है। और सत्य तो यह है कि वे ममतास्पद की इच्छा के अनुकूल चलने में प्रसन्नता का अनुभव करते हैं और यदि कदाचित ममता में दुःख का प्रश्न हो तो वे लोक कल्याण के लिए दुःख का वरण करने को सहर्ष प्रस्तुत हैं। उनकी ममता सार्वजनीन है उसमें अपने और पराए का विभाजन नहीं है। वे स्वयं अपनी ममता की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट कर देते हैं।

सकल बिस्व यह मम उपजाया।
सब परि मोरि बराबर दाया॥

जैसा पूर्व में कहा जा चुका है श्री कृष्ण सृष्टि के समक्ष न्याय का अप्रतिम आदर्श उपस्थित करते हैं। भगवान राम के चरित्र में न्याय का यह उल्वण रूप नहीं दिखाई देता। उनका मार्ग सर्वथा भिन्न है, उसे हम कृपा और औदार्य का मार्ग कह सकते हैं। यह एक अद्भुत विरोधाभास है कि श्री कृष्ण शस्त्रधारी की अपेक्षा वंशीधर के रूप में ही अधिक प्रसिद्ध हैं पर उनके चरित्र में आदि से अन्त तक दण्ड का कठोर प्रयोग है। अपना पराया कोई भी उसमें अपवाद नहीं है। यही न्याय का सच्चा रूप है। भगवान राम धनुर्धर होते हुये भी उसका प्रयोग कम से कम करना चाहते हैं। बाध्यतामूलक परिस्थितियों में शस्त्र का प्रयोग करते हुए भी वह उससे बचना चाहते हैं। अभिमानी बालि के ऊपर कठोर बाण का प्रयोग करने के बाद जान बूझकर वे उसके सामने खड़े हो जाते हैं। इसका आन्तरिक उद्देश्य यही था कि यदि बालि अपनी त्रुटियों के परिमार्जन के लिए प्रस्तुत हो तो उसे जीवन दान दे दिया जाय। यद्यपि वे बालि के वध की प्रतिज्ञा कर चुके थे फिर भी वे बालि के पश्चात्ताप को देखकर उसे भी तोड़ने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं। वाणी के प्रारम्भिक कठोर आदान प्रदान के बाद बालि ने अनुपात भरे स्वर में अपनी त्रुटि

स्वीकार कर ली।

सुनहु राम स्वामी सन चल न चातुरी मोर।
प्रभु अजहूँ मैं पापी अंत काल गति तोर ॥

तत्काल प्रभु का वरद कर कमल बालि के मस्तक पर होता है और वे उसे अमर करने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं।

सुनत राम अति कोमल बानी।
बालि सीस परसेउ निज पानी ॥
अचल करौं तनु राखहु प्राना।
बालि कहा सुनु कृपा निधाना ॥

भगवान राम को एक ऐसे समाज का आदर्श प्रिय था जिसमें दण्ड की कोई आवश्यकता न हो और रामराज्य के रूप में उन्होंने इसी आदर्श को चरितार्थ किया। कवित्वपूर्ण भाषा में इसी आदर्श का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी ने लिखा, "यदि दण्डी सन्यासियों के हाथ में दण्ड न होता तो रामराज्य में सम्भवतः लोग दण्ड शब्द को ही भूल जाते।

दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज।
जीतहु मनहि सुनिअ अस रामचन्द्र के राज ॥

दण्ड न्याय व्यवस्था का मुख्य आधार है इसलिए किसी भी न्याय परायण राज्य में दण्ड का बड़ा महत्व होता है। किन्तु रामराज्य न्याय राज्य न होकर प्रेम राज्य है। इसलिए भगवान राम के क्रिया कलापों को न्याय व्यवस्था के आधार पर नहीं परखा जाना चाहिए।

श्री सीता के परित्याग को लेकर न्याय अन्याय का प्रश्न इन्हीं भ्रान्त धारणाओं को लेकर उठाया जाता है। यह प्रश्न तो अस्वाभाविक नहीं है कि एक रजक के मूर्खतापूर्ण प्रलाप का दण्ड श्री सीता को देना कहाँ तक न्याय संगत था। पर प्रश्न तो तब उठाया जाना चाहिए जब भगवान राम ने इसे न्याय के रूप में प्रस्तुत किया हो। श्री सीता के परित्याग का तात्पर्य धोबी के लांछन को स्वीकार करना भी नहीं था। जब उन्होंने कैकेयी अम्बा के मिथ्या संशय पर अयोध्या के राज्य का परित्याग किया था तब भी उनके समक्ष आरोप की सत्यता अथवा न्यायदृष्टि का प्रश्न नहीं था। कैकेयी अम्बा के द्वारा किये जाने वाले अन्याय को वे अस्वीकार कर सकते थे। कैकेयी के क्रूरतापूर्ण कार्य के लिए उन्हें दण्डित भी किया

जा सकता था पर यह श्रीराम का मार्ग न होता। आशंका एक ऐसी बीमारी है कि जिसका उपशमन उसका दण्ड नहीं हो सकता। यदि किसी के अन्तःकरण में भ्रामक धारणा का उदय हुआ है तो स्नेह से उसका निराकरण किया जाना चाहिए। चौदह वर्ष के लिए स्वेच्छा से वनवास स्वीकार कर उन्होंने यही आदर्श प्रस्तुत किया था। रजक के आरोप पर श्री सीता से वियोगी रहने का उनका संकल्प इसी आदर्श का दूसरा प्रमाण है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि सीता पर यह वनवास लादा गया इसमें उनकी स्वीकृत नहीं ली गई पर इसके पीछे अनेक भावनाएं विद्यमान रही होंगी। यदि वे सीता से इन सारी बातों को कह पाते तो सम्भवतः उनके हृदय का भार बहुत हल्का हो जाता, पर उन्होंने उस पीड़ा को सर्वाधिक कठोर रूप में भोगा। यहाँ महाराजा श्री दशरथ के मौन का स्मरण आना स्वाभाविक है। श्रीराम का वनगमन उनकी आज्ञा का पालन करने के लिए ही हुआ था, किन्तु उनके पास कहने के लिए क्या था जो वे कहते। जो परिस्थिति थी उसमें उन्हें कोई मार्ग नहीं सूझ रहा था। महाराज दशरथ यह भली भाँति जानते थे कि राम के प्रति अन्याय हो रहा है, पर श्री राम को रोकने पर सत्य और धर्म की समस्याएं उनके समक्ष थीं। वे तो थीं ही, पर श्रीराम को बलात् रोक दिया जाता तो क्या उनके चारित्रिक गौरव के अनुरूप होता? उन्हें यह भली प्रकार ज्ञात था कि इस अन्यायपूर्ण आज्ञा को शिरोधार्य कर वन चले जाने में राम के यश की वृद्धि होगी। लोकदृष्टि से उनका चरित्र और भी निखर उठेगा और तब जो रामराज्य बनेगा वह लोगों के हृदय पर होगा और यदि न्याय के नाम पर राम को अभिषिक्त करने का प्रयास किया गया तो वह राघवेन्द्र के गौरवपूर्ण चरित्र के अनुरूप न होगा। महारानी कैकेयी से उन्होंने व्यथा और विश्वास के स्वरों में कहा था, "एक न एक दिन तो पुनः राम का राज्य होगा ही किन्तु तुम्हारा कलंक और मेरा पश्चाताप कभी समाप्त न होगा।

सुबस बसहि फिरि अवध सुहाई।
सब गुन धाम राम प्रभुताई॥
करिहहिं भाइ सकल सेवकाई।
होइहि तिहुँ पुर राम बड़ाई॥
तोर कलंकु मोर पछिताऊ।
मुएहुँ न मिटहि न जाइहि काऊ॥

भगवान राम के वन गमन की मूक स्वीकृति के पीछे महाराज श्री दशरथ की यही भावना थी। भगवान राम के समक्ष श्री सीता के वनवास के अवसर पर यह समस्या और भी जटिल रूप में उनके सामने थी। उनके समक्ष कई विकल्प हो सकते थे। यदि वे चाहते तो धोबी को द्वारा कही गई बातों की पूर्ण उपेक्षा कर सकते थे किन्तु भगवान राम मानव मन के ज्ञाता ही नहीं निर्माता भी थे उन्हें यह भली प्रकार ज्ञात था कि इस प्रकार के नन्हें विचार कितनी शीघ्रता से अंकुरित पल्लवित होते हुए विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेते हैं। अतः जन मानस में उठने वाले क्षुद्र से क्षुद्र विचारों की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। यह उपेक्षा एक सन्यासी के लिए श्रेयस्कर हो सकती है, राजा के लिए नहीं। दूसरा विकल्प धोबी को दण्ड देना था किन्तु दण्ड का आधार क्या था? यदि संशय प्रकट करने के लिए धोबी को दण्ड देना उचित होता तब तों स्वयं श्री सीता के लिए ही जटिल समस्या होती मारीच बध के प्रसंग में क्षुब्ध श्री सीता जी ने जिस प्रकार श्री लक्ष्मण के चरित्र और मनोभाव पर संशय प्रगट किया था, चौदह वर्ष तक प्रतिक्षण समीप रहने वाले पुत्रवत् दुलारे देवर के प्रति यदि वे आवेश में ऐसे आरोप लगा सकतीं तो एक धोबी को इस प्रकार के संशय प्रगट किये जाने पर क्यों दण्ड दिया जाना चाहिए। अतः इस अपवित्र संशय से निराकरण का एक ही उपाय था कि संशय करने वाली के हृदय में स्वयं अपने सन्देह की निरर्थकता का बोध हो। प्रभु ने रामराज्य से दण्ड की प्रथा से जिस प्रकार हार्दिक सृजन किया था उपरोक्त विचार इस आदर्श के ही अनुरूप था। प्रत्येक समुद्र मन्थन अमृत के ही लिए किया जाता है किन्तु अमृत के साथ-साथ विष निकलना भी अवश्यम्भावी है। समुद्र मन्थन से जब विष प्रकट हुआ तब उसका पान करने के लिए भगवान नारायण ने अपने सर्वाधिक प्रिय शिव को चुना। इसे अन्याय भी कह सकते हैं और प्रेम भी, देवर्षि नारद ने इसमें अन्याय का दर्शन किया था।

असुर सुरा बिष संकरहि आपु रमा मनि चारु।
स्वारथ साधक कुटिल तुम्ह सदा कपट व्यवहारु ॥

किन्तु भगवान शिव को इसमें प्रीति ओर अपनत्व का दर्शन हुआ था रामराज्य के समुद्र मन्थन में जो अमृत प्राप्त हुआ उसे सारे विश्व ने पिया किन्तु संशय और पीड़ा के हलाहल को रामप्रिया श्री जानकी ने पिया।

भगवान शिव की अपेक्षा भी उनका यह आत्म त्याग गौरव की गरिमा से भरा हुआ है। प्रीति में न्याय नहीं होता वह तो सर्व त्याग की प्रक्रिया है जहाँ देना ही देना है।

पुरवासियों के प्रति श्री राम के इस ममत्व से ही प्रजा के मन में वह आकाँक्षा उत्पन्न होती है जिससे प्रेरित होकर वे जीवन के स्थान पर ईश्वर से मृत्यु की याचना करते हैं। दीर्घ आयु का वरदान सभी माँगते हैं पर उनकी तो एक ही माँग है—"श्रीराम के राजा होते हुए ही हमारी मृत्यु हो जाय।" श्रीराम के राज्य के पश्चात् किसी अन्य राज्य में जीवित रहने की कल्पना भी उन्हें असह्य है।

"अछत राम राजा अवध मरिय माँग सब कोय।"

प्रत्येक लीला का उपसंहार भी होता ही है। भगवान राम की लीला-संवरण की यात्रा में सारी अयोध्या के लोग उनके साथ थे। सारे विश्व के इतिहास में किसी सन्त महापुरुष, राजा या अवतार को समाज का इतना स्नेह प्राप्त नहीं हुआ जितना भगवान राम को। सारी प्रजा को अपने साथ स्वधाम ले जाकर प्रभु ने अपने स्वभाव और चरित्र की ही परम्परा का निर्वाह किया। महान नाटक का वह महानतम पटाक्षेप था।

बहुरि कहहु करुनायतन कीन्ह जो अचरज राम।
प्रजा सहित रघुबंस मनि किमि गवने निज धाम॥

पार्वती के प्रश्न में निहित आश्चर्य स्वाभाविक ही था। एक अप्रतिम घटना थी जहाँ लोक और परलोक का समान सामञ्जस्य था। लोक-मंगल का ऐसा साकार रूप विश्व इतिहास में कभी घटित हुआ ही नहीं। भगवान राम की मंगलमयी लीला का उपसंहार भक्ति दर्शन के अनुकूल होता है। जहाँ व्यक्ति के अन्तःकरण में ईश्वर के प्रति भक्ति अंकुरित होती है।

अस प्रभु छाँड़ि भजिय कहु काही।
मो ते सठ पर ममता जाही॥

भगवान भक्त को स्वयं से कभी पृथक नही करते हैं इसकी समग्र चरितार्थता राम चरित्र में है। पौराणिक मान्यता के अनुकूल श्रीकृष्ण का लीलाकाल भगवान राम की तुलना में अत्यधिक संक्षिप्त था, केवल १२८ वर्ष। भगवान राम का लीला काल है १३००० वर्ष। यह १२८ वर्ष प्रारम्भ

से लेकर अन्त तक रहस्य रोमाञ्च और संघर्ष की गाथाओं से भरा हुआ है। भगवान राम का रावण के विरुद्ध युद्ध सेना-शौर्य आदि की दृष्टि से अप्रतिम था। फिर भी यह युद्ध केवल ३१ दिनों में समाप्त हो गया। वनवास के चौदह वर्षों में केवल अन्तिम वर्ष ही संघर्ष का वर्ष था। बयालिस वर्ष की अवस्था में प्रभु राज्यसिंहासनासीन हो गए। तेरह हजार वर्ष की विशाल परिधि में संघर्ष अशान्ति का काल नगण्य है। केवल सुख शान्ति और सद्भाव का राज्य। पर संक्षिप्त कृष्ण लीला का उपसंहार ज्ञान वैराग्य के दर्शन को प्रकट करता है। ऐसा लगता है जैसे सारा विश्व, वैभव, परिवार, राज्य आदि सभी मिथ्या हैं। एकमात्र आत्म स्वरूप में स्थिर रह कर ही परम शान्ति उपलब्ध हो सकती है। इसलिए यह सर्वथा युक्तिसंगत ही है कि श्री कृष्ण लीला का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ श्रीमद्भागवत् ज्ञान और वैराग्य को युवा करने के लिये सुना गया। यद्यपि भक्ति और उसके पुत्र ज्ञान और वैराग्य तीनों ही वृद्ध हो गए थे किन्तु वृन्दावन पहुँच कर भक्ति देवी युवा हो गईं। इन पुत्रों को युवा करने के लिए ही उन्हें श्रीमद्भागवत् की कथा सुनाई गई। यह वर्णन यथार्थ का अद्भुत परिचय देता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्याम सुन्दर की ब्रज लीला भक्ति रस की सीमा है। आज भी वह भक्तों का परम धन है। इसलिए भक्ति का वृन्दावन में युवा हो जाना स्वाभाविक था। किन्तु मथुरा और द्वारिका की लीला ज्ञान और वैराग्य को ही पूरी तरह अभिव्यक्त करती है। परीक्षित को महात्मा शुकदेव के द्वारा श्रीमद्भागवत् का सुनाया जाना इसी धारणा की पुष्टि करता है। परीक्षित श्री कृष्ण के भक्त हैं—किन्तु उस समय उनके समक्ष मृत्यु का महान् भय उपस्थित था। ऋषिपुत्र के शाप से उन्हें तक्षक नाग डसने वाला था। ऐसी परिस्थिति में उनके लिये श्री कृष्ण कथा का उपदेश सर्वथा समयोचित और मनोवैज्ञानिक था। एक ओर वह उनके इष्ट का तो चरित्र था ही पर मृत्यु के समक्ष अविचलित रहने के लिए भगवान् कृष्ण के महाप्रयाण की लीला से बढ़कर उपादेय कोई चरित्र नहीं हो सकता था। मानों उस कथा में यह संकेत था कि वे विश्व इतिहास में अकेले ही ऐसे पात्र नहीं हैं जिसके समक्ष मृत्यु इतने भयावने रूप में उपस्थित हो। दुर्वासा के शाप से कोटि कोटि यदुवंशियों के संहार की भयावनी गाथा उनके समक्ष थी। वे तो इस दृष्टि से सौभाग्यशाली थे कि मृत्यु के पूर्व उन्हें संत समागम का ऐसा सुअवसर प्राप्त हुआ। फिर इस महासंहार में उनके इष्ट का एकान्तिक

चित्र विश्व से उपरामता की शिक्षा दे रहा था। परीक्षित के अन्तःकरण में सच्चे वैराग्य और ज्ञान का उदय हुआ और वे अविचलित भाव से मृत्यु का वरण कर सके।

प्रेत योनि से मुक्ति के लिए श्रीमद्भागवत् श्रवण के पीछे यही मनोवैज्ञानिक कारण विद्यमान है। व्यक्ति आसक्ति के कारण ही प्रेत होता है। अनासक्ति के लिए राजाओं की वंश परम्परा और उनका विनाश इसी दृष्टि से सुनाया जाता है कि श्रवण करता हुआ प्रेत यह भली भाँति समझ ले कि सारा विश्व विनाशशील है और फिर अन्त में भगवान् श्री कृष्ण का चरित्र वैराग्य और उपरामता की दृष्टि से सर्वथा अनुपम है। अतः ऐसी स्थिति में प्रेत के अन्तःकरण में वैराग्य और अनासक्ति का उदय होकर भगवत्तत्व का साक्षात्कार होना स्वाभाविक है।

भगवान् राम का चरित्र दर्शन सर्वथा भिन्न होने से एक भिन्न मनोवैज्ञानिक भाव की सृष्टि करने वाला है। वह सीधे विश्व के मिथ्यात्व ज्ञान की ओर नहीं ले जाता। उसका मुख्य उद्देश्य श्री राम के चरणों में आसक्ति उत्पन्न करना है। इसीलिए राम चरित्र के श्रोताओं में परीक्षित जैसा कोई श्रोता नहीं है। राम चरित्र मुख्य रूप से लोक मंगल और जीवन निर्माण की कला है इसलिए वह हमारे अन्तःकरण में भक्ति रस का संचार करती है। मानस के सभी प्रधान वक्ता, श्रोता असीम आयु वाले दिखाई देते हैं। 'शंकर-पार्वती, कागभुशुण्डि-गरुड़, याज्ञवल्क्य-भरद्वाज' सभी इसी श्रेणी में आते हैं। इनमें किसी के सामने मृत्यु का भय नहीं है। यहाँ तो जीवन को रसमय बनाने की प्रक्रिया का दर्शन होता है। श्री कृष्ण चरित्र मृत्यु के महाभय से व्यक्ति को मुक्त कर देता है। भगवान् राम का चरित्र जीवन को धन्य बनाने का काव्य है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि राम चरित्र हमें मृत्यु भय से मुक्त नहीं करता और न तो इसका अर्थ यह ही है कि श्री कृष्ण के चरित्र में जीवन निर्माण के तत्व नहीं हैं। सत्य तो यह है कि जीवन और मृत्यु एक दूसरे से सर्वथा सम्बद्ध हैं। जिसका जीवन धन्य हो चुका है, जिसका अन्तःकरण भगवत् प्रेम से ओत प्रोत है वहाँ मृत्यु से कैसा भय और ठीक इसी तरह जिसने मृत्यु के महान् भय को जीत लिया है उस विरागी का जीवन धन्य होगा ही। फिर भी दोनों चरित्रों में केन्द्र की मुख्यता का अन्तर तो है ही। गीता और मानस के विचारों में अत्यधिक साम्य होते हुए भी केन्द्र बिन्दु

का यह अन्तर प्रत्यक्ष दृष्टि गोचर होता है। अगले अध्यायों में हम विस्तार से इस प्रश्न पर विचार करेंगे।

मानस और गीता का प्राकट्य एक दूसरे से सर्वथा भिन्न परिस्थिति में होता है। हिमालय के सर्वोच्च शिखर कैलाश पर बट वृक्ष की सुशीतल छाया में आसीन त्रिभुवन गुरु भगवान् शिव और उनके सन्निकट श्रद्धामयी भगवती पार्वती। सर्वथा प्रशान्त और एकान्त क्षणों में देवी उमा ने राम कथा श्रवण की आकांक्षा प्रगट की और अखिल लोक महेश्वर ने उन्हें दिव्य कथामृत का पान कराया।

नाथ तवानन ससि श्रवत कथा सुधा रघुबीर।
श्रवन पुरन्हि मन पान कर नहि अघात मति धीर॥

गीता का आविर्भाव उस रण क्षेत्र में होता है जहाँ शस्त्र सन्नद्ध योद्धा एक दूसरे का विनाश करने के लिए एकत्र हुए हैं। अठारह अक्षौहिणी सेना का तुमुल नाद, अस्त्र-शस्त्रों की झंकार, युद्ध वाद्यों का घोर रव, शंख ध्वनि से सारा वातावरण उद्वेलित हो रहा है। वक्ता हैं योगेश्वर भगवान् श्री कृष्ण जो इस समय उपदेश की मुद्रा में न होकर सारथ्य कार्य में संलग्न हैं। हाथ में घोड़ों की लगाम और उन पर शासन के लिए चाबुक। वक्ता का यह आसन, उसकी यह मुद्रा विश्व इतिहास में अप्रतिम है। प्रतिकूल परिस्थितियों में श्री कृष्ण का यह अविचलित चित्त उनके जीवन दर्शन के अनुरूप ही है।

मानस के प्राकट्य में जहाँ देश, काल और पात्र की अनुकूलता का दर्शन होता है वहाँ गीता ज्ञान का आविर्भाव प्रतिकूल परिस्थितियों में होता है। देश, काल और पात्र की अनुकूलता में रसोत्पत्ति होना स्वाभाविक है। इसीलिए आध्यात्मिक जीवन में इनको असाधारण महत्त्व प्राप्त है। कुरुक्षेत्र में बृजवासियों को पुनः नन्द नन्दन से मिलन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। विरहिणी गोपियों के लिए तो यह घड़ी सर्वथा विलक्षण थी। एक ओर चिरकाल के पश्चात् प्रियतम श्याम सुन्दर का सामीप्य पर इस सामीप्य में कितनी दूरियाँ? रासेश्वरी श्री राधा से श्याम सुन्दर का पुनः मिलन हुआ पर मिलन के क्षणों में वह दिव्य रस कहाँ? किसी गोपी ने व्याकुलता भरे स्वर में उनसे प्रश्न किया, सखि कृष्ण से मिलकर कैसी अनुभूति हुई? प्रेममयी राधिका की आँखों में आँसू छलक उठे, भीगे कण्ठ से उन्होंने उत्तर दिया 'वही प्रियतम श्री कृष्ण और वही मैं राधा

और वही हम दोनों का मिलन पर मेरा मन तो कालिन्दी पुलिन पर वंशी बजाते हुये कृष्ण की स्मृतियों में खोया हुआ था। उन्हीं से मिलने की आकुल कामना हृदय का मंथन कर रही थी।' प्रथम दृष्टि में यह कितना अटपटा लगता है। महत्वपूर्ण कृष्ण हैं अथवा यमुना पुलिन किन्तु रसिकों ने रसमय वृन्दावन के केलि कछारों को कम महत्व नहीं दिया। वृन्दावन से पृथक् होकर श्रीकृष्ण उतने रसीले हो सकते हैं यह रसिक भक्तों ने सर्वथा अस्वीकार कर दिया। सबसे आगे बढ़कर एक भक्त ने तो यहाँ तक कह दिया कि वृन्दावन के बाहर यदि श्री कृष्ण का साक्षात्कार भी हो तो हमें वह स्वीकार नहीं है।'

रे मन वृन्दा बिपिन निहारु।
बिपिन राज सीमा के बाहर हरि हूँ को न निहारु॥

रस रीति की यही प्रकृति है। स्वयं श्रीकृष्ण साक्षात् बोध रूप ही हैं। अतः परिस्थितियों की प्रतिकूलता उन्हें प्रभावित नहीं करती। यमुना पुलिन पर जिस तन्मयता से वह वंशी वादन करते हैं, अपनी रसमयी स्वर लहरी से गोपियों के मन प्राण को रस सिक्त बना देते हैं उतनी ही एकाग्रता से कुरुक्षेत्र के युद्ध प्राङ्गण में अपने प्रिय सखा अर्जुन को वे गीतामृत पिलाकर उसे मोह मुक्त बना देते हैं।

गीता में सर्वाधिक महत्व व्यक्ति की अन्तर्मुखता को दिया गया है। उसका मुख्य केन्द्र है 'व्यक्ति'। अर्जुन के समक्ष अन्तर्द्वन्द्व का संकट है। दोनों सेनाओं के मध्य में खड़े होकर उसने जिन लोगों को शत्रु के रूप में सामने खड़े देखा वे उसके पूज्य और प्रिय सम्बन्धी ही तो थे। उसका संवेदनशील भावुक हृदय भविष्य की कल्पना से काँप उठा। 'इस युद्ध के द्वारा हमें क्या मिलनेवाला है? क्या वह उपलब्धि इतनी बड़ी होगी कि उसके लिये गुरुजनों का बध किया जाय? रक्त से सनी हुई पृथ्वी को पाकर क्या हम उसका उपभोग करके सुख और शान्ति का अनुभव कर सकेंगे? यदि दुर्योधन लोभान्ध होकर सर्वनाश के लिए प्रस्तुत है तो क्या हम लोग उसी पथ का अनुसरण नहीं कर रहे हैं? भविष्य के लिए समाज को हमारी क्या देन होगी? इस सर्वग्रासी युद्ध के बाद क्या बचा हुआ समाज पथ भ्रष्ट नहीं हो जाएगा?' इन प्रश्नों ने अर्जुन को उद्वेलित कर दिया। उसके हाथों से गाण्डीव गिर पड़ा और उसने युद्ध से विरत हो

जाने का संकल्प किया। अपनी अन्तर्व्यथा को उसने अपने आराध्य और मित्र के समक्ष खोल कर रख दिया।

अर्जुन के प्रश्न ऐसे नहीं थे कि उनकी सरलता से उपेक्षा की जा सके। गीता के गौरवपूर्ण उद्‌बोधन के बाद भी अर्जुन के प्रश्न आज भी अनेक विचारकों को उद्वेलित कर देते हैं। उस युग में भी अनेक ऐसे लोग थे जिन्हें इस युद्ध में कोई औचित्य नहीं दिखाई देता था। महाभारत की एक गाथा में ऋषि और भगवान् कृष्ण के वार्तालाप में इस तथ्य के संकेत प्राप्त होते हैं। महाभारत युद्ध की समाप्ति के बाद द्वारिका की ओर लौटते हुए श्रीकृष्ण आश्रम में विश्राम के लिए रुकते हैं। महर्षि को विश्वास था कि कृष्ण ने इस विनाशकारी संघर्ष को रोक दिया होगा। किन्तु उन्हें यह जानकर अपार कष्ट हुआ कि इस सर्वनाशी युद्ध ने सभी महान् योद्धाओं के प्राण ले लिए। उन्होंने श्रीकृष्ण के प्रति तीव्र आक्रोश प्रगट किया क्योंकि उन्हें पूर्ण विश्वास था कि यदि श्रीकृष्ण चाहते तो यह युद्ध रुक सकता था। उन्हें लगा कि सामर्थ्य होते हुये भी उसका उपयोग न करके श्रीकृष्ण ने अपने कर्तव्य की अवहेलना की है। उन्होने इसके लिए न केवल श्री कृष्ण को फटकारा अपितु शाप भी दे दिया।

महर्षि युद्ध विरोधी थे और उनके मन में यह व्याकुलता स्वाभाविक थी कि इस युद्ध से सर्वनाश और महाशून्य छोड़कर क्या मिला ? शायद महर्षि को यह ज्ञात नहीं था कि महारथी अर्जुन ने तो युद्ध से विरत भी होना चाहा था पर श्रीकृष्ण ने ही उन्हें पुनः प्रेरित किया नहीं तो श्रीकृष्ण के प्रति उनका आक्रोश सौ गुना बढ़ जाता। अर्जुन ने जिन आशंकाओं को श्रीकृष्ण के सामने प्रस्तुत किया प्रत्यक्ष रीति से गीता में उसका उत्तर नहीं दिया गया है। महर्षि के मन में कुछ ऐसी आशंकाएँ रही होंगी अतः ऐसी स्थिति में लोकमंगल की इस भावना की उपेक्षा करने में श्रीकृष्ण का क्या अभिप्राय था ? राम रावण युद्ध की भाँति इस युद्ध के पश्चात् किसी महान् उद्देश्य की उपलब्धि हुई होती तो इस युद्ध की सार्थकता मानी जा सकती थी किन्तु श्री कृष्ण को यह भली भाँति ज्ञात था कि इस युद्ध में समग्र विनाश निश्चित है। इसीलिए उन्होंने अपने पूरे उत्तर में अर्जुन को कहीं भी यह आश्वासन नहीं दिया कि इस युद्ध का कोई मंगलकारी परिणाम होनेवाला है या तुमने समाज और कुल के विषय में जो आशंका प्रगट की है वे सब यथार्थ नहीं सिद्ध होंगी। वे आशंकाओं को अनुत्तरित रहने देते हैं। इसके स्थान पर वे

इस बात पर बल देते हैं कि तुम जिन वस्तुओं को इतना महत्व देते हो वे यथार्थ नहीं हैं। इस तरह यह कहा जा सकता है कि अर्जुन के व्यावहारिक आशंकाओं का निराकरण करने के लिए श्रीकृष्ण उसका व्यावहारिक उत्तर न देकर विचारमूलक उत्तर देते हैं। साधारण दृष्टि से उत्तर देने की यह प्रक्रिया अटपटी प्रतीत होती है। यदि कोई रोगी वैद्य के पास अपने रोग की चिकित्सा के लिए जाय और चिकित्सक उसकी स्वास्थ्य-मूलक समस्याओं का समाधान देने के स्थान पर उसके समक्ष शरीर के मिथ्यात्व का वर्णन करने लगे, तो ऐसी स्थिति में शायद ही कोई रोगी सन्तोष का अनुभव कर सके। पर एक स्थिति में इस प्रकार का व्यवहार युक्तिसंगत माना जा सकता है कि वैद्य रोग को पूरी तरह असाध्य मान चुका हो और रोगी के मृत्यु भय को मिटाने के लिए वह मिथ्यात्व की भूमिका बाँध रहा हो। वस्तुतः श्रीकृष्ण के समक्ष यही समस्या थी। उनकी दृष्टि में तत्कालीन समाज और योद्धा ऐसी स्थिति में पहुँच चुके थे जहाँ उसके स्वस्थ होने की सम्भावना नहीं थी। ऐसी स्थिति में जो अपरिहार्य है उसे सहज मन से स्वीकार करने के लिये वे अर्जुन को व्यवहार की भूमि से उठाकर विचार के राज्य में ले जाना चाहते हैं। इसीलिए वे अर्जुन के समक्ष अपरिहार्यता पर इतना अधिक बल देते हैं—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥ श्रीम०भ०गीता ११॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥१२॥

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥१३॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥१४॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःख सुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥१५॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥१६॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥१७॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ।।१८।।
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ।।१९।।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्-
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।२०।।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ।।२१।।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।२२।।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।।२३।।
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एवच ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।।२४।।
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ।।२५।।
अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ।।२६।।
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ।।२७।।

उपरोक्त श्लोकों में अर्जुन की आशंकाओं का उत्तर न देकर उनकी व्यर्थता सिद्ध की गई है। उत्तर देने की मुद्रा भी बड़ी अद्भुत है। अर्जुन अन्तर्वेदना के कठिनतम क्षणों का अनुभव कर रहा है। वह शोक की साकार प्रतिमा बन गया है पर श्रीकृष्ण सहानुभूति के स्थान पर व्यंग्य भरी वाणी का प्रयोग करते हैं। इतना ही नहीं उसकी इस दशा पर हँस पड़ते हैं। "प्रहसन्निव भारत"। दुःखित व्यक्ति के प्रति समवेदना प्रगट

करना साधारण शिष्टाचार है। ऐसे अवसरों पर हँसता हुआ व्यक्ति भी गम्भीर हो जाता है। श्रीकृष्ण का अर्जुन के प्रति जो प्रगाढ़ स्नेह है वह विश्व इतिहास में विरल है। जिसके प्रेम के वशीभूत होकर स्वयं भगवान् सारथ्य स्वीकार कर लें उसका उपहास श्रीकृष्ण को अभीष्ट ही नहीं हो सकता। अतः होठों पर झलकनेवाली इस हँसी का उद्देश्य था स्वयं अर्जुन को भी हँसाने की चेष्टा। यदि उनकी दृष्टि में अर्जुन का दुःख वास्तविक होता तो वे कदापि न मुस्कराते। वस्तुतः यह ईश्वर की हँसी थी। जिसके संकल्प से कोटि-कोटि बार सृष्टि का सृजन और संहार हुआ हो उसके समक्ष जब अर्जुन लोकक्षय की आशंका से व्याकुल हो उठा तब उनका हँसना स्वाभाविक ही था। बालक मिट्टी के बनाए हुए घरौंदों में खेलता है और कदाचित् दूसरा बालक घरौंदे की कल्पित दीवाल को तोड़ दे तो लड़ पड़ता है रोने लग जाता है। अब एक प्रौढ़ व्यक्ति इस प्रकार के दृश्य को देखकर हँसने को छोड़कर कर ही क्या सकता है। श्रीकृष्ण की हँसी में मित्र के प्रति मीठी चुटकी थी कि "लोक निर्माता को यह चिन्ता हो कि विश्व विनष्ट न हो जाय तो स्वाभाविक है पर मैं हँस रहा हूँ कि तुम हो कि कुलक्षय की आशंका से सूख रहे हो।" छोड़ो व्यर्थ की चिन्ता। आगे चलकर श्रीकृष्ण अर्जुन को अपने विराट् रूप का दर्शन कराते हैं पर उस विराट् रूप का दर्शन करने के लिए वे दिव्य दृष्टि भी देते हैं। इसका सीधा तात्पर्य था कि विराट् को केवल देखना ही यथेष्ट नहीं है। उसे ईश्वर की दृष्टि से देखकर एक भिन्न रहस्य की अनुभूति होती है। जादूगर के खेल को दर्शक अपनी आँखों से तो देखता ही है पर जादूगर की दृष्टि से जादू को देखना भिन्न अर्थ रखता है। इन्द्रजाली यदि शरीर के टुकड़े-टुकड़े काटना प्रारम्भ कर दे तो दर्शक का हृदय धड़कने लगता है। वह आशंका से व्याकुल हो जाता है पर जादूगर ऊपर से गम्भीरता का अभिनय करता हुआ भी भीतर ही भीतर हँसता रहता है। वह दर्शक की व्याकुलता का आनन्द लेता है। श्रीकृष्ण से बढ़कर जादूगर कौन होगा ? मायानाथ का अर्जुन की व्याकुलता पर हँस पड़ना स्वाभाविक ही था। प्रारम्भ में दिया गया उपदेश वस्तुतः जादूगर के जादू का रहस्य है। यदि जादूगर के जादू को देखकर कोई दर्शक बेहोश होने लगे तो उसके पास जाकर जादूगर समझाता है अरे भाई सब मिथ्या खेल है तुम इसे सच मान बैठे ? इस तरह वे आशंकाओं के निवारण के स्थान पर उन आशंकाओं के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करके अर्जुन को मोह मुक्त बना देते हैं।

किन्तु मिथ्यात्व का यह दर्शन तभी कल्याणकारी हो सकता है जब उसका उचित अवसर पर उपयोग किया जाय। नहीं तो व्यावहारिक जीवन में इन सिद्धान्तों का पग-पग पर दुरुपयोग सम्भावित है। "न कोई मारता है और न कोई मरता है।" "मृत्यु जीर्ण वस्त्र का परित्याग है। आत्मा नित्य है पण्डित शोक नहीं करते आदि।" उपरोक्त श्लोकों में प्रतिपादित सिद्धान्त हत्या और निष्ठुरता के प्रतिपादक बन सकते हैं। ये सिद्धान्त शाश्वत सत्य होते हुए भी सार्वकालिक उपयोग के लिए नहीं हैं। एक डाक्टर शरीर की रक्षा के लिए शल्य चिकित्सा का प्रयोग करता है। ऐसी स्थिति में उसके हाथों रोगी की मृत्यु भी हो सकती है। ऐसी स्थिति में मृत्यु की अनिवार्यता का सिद्धान्त सान्त्वना प्रदान कर सकता है। किन्तु यदि कोई हत्यारा इस सिद्धान्त की आड़ में अपने कुकृत्य का औचित्य सिद्ध करना चाहे तो फिर समाज के लिए इससे अधिक घातक कुछ हो ही नहीं सकता। "ईश्वर की असीमता में हमारी पृथ्वी सर्वथा नगण्य है। असीम काल में लाखों वर्षों का भी कोई महत्व नहीं है और अगणित बार विनष्ट हो जानेवाली सृष्टि में करोड़ों व्यक्तियों की मृत्यु का कोई अर्थ नहीं है।" तात्त्विक दृष्टि से यथार्थ होते हुए भी इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम पृथ्वी को सुखद बनाने का प्रयास छोड़ दें। अपने समय के सदुपयोग की चेष्टा न करें। और निरन्तर मरने-मारने के लिए उतारू होकर युद्ध को आमंत्रित करते रहें। गीता का भी तात्पर्य यह नहीं है। इस तात्विक ज्ञान का तात्पर्य व्यक्ति को अनासक्त बनाना है। युद्ध और मृत्यु के अपरिहार्य क्षणों में व्यक्ति की आत्मनिष्ठा ही उसे तटस्थ और शान्त रख सकती है। इसीलिए प्रारम्भ में श्रीकृष्ण ने मिथ्यात्व और अपरिहार्यता के सिद्धान्त पर बल दिया। पर जीवन की व्यापकता को दृष्टिगत रखकर गीता में उन सभी योगों का प्रतिपादन किया गया जो विभिन्न परिस्थितियों में मानव जीवन को अनुप्राणित करते हैं।

रामचरित मानस की श्रोता पार्वती हैं। उनका प्रश्न रस के साथ लोक हित की भावना से अनुप्राणित है। अर्जुन के समान वे किसी अन्तर्द्वन्द्व से पीड़ित नहीं हैं। उन्होंने भगवान् शिव से कथा सुनाने की प्रार्थना करते हुए अपनी भावना इन शब्दों में प्रकट की—

कथा जो सकल लोक हितकारी।
सोइ पूँछन चह सैल कुमारी॥

भगवान् शिव ने पार्वती के प्रश्न की प्रशंसा करते हुए उनके लोक हित के सद्भाव की सराहना की।

धन्य धन्य गिरिराज कुमारी।
तुम समान नहिं कोउ उपकारी॥
पूँछउ रघुपति कथा प्रसंगा।
सकल लोक जग पावनि गंगा॥

यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि गीता का श्रोता स्वयं रोग ग्रस्त है और श्रीकृष्ण उसको औषधि देकर स्वस्थ बनाते हैं। मानस का प्राकट्य औषधि के रूप में न होकर भोजन के रूप में होता है। जीवन में औषधि और भोजन दोनों की आवश्यकता है। गीता का श्री गणेश औषधि के रूप में अवश्य हुआ पर अर्जुन को निमित्त बनाकर उसमें लोक हित की दृष्टि से भोजन का भाग भी जोड़ दिया गया। मानस का श्री गणेश भोजन के रूप में हुआ पर उपसंहार में वहाँ मानस रोगों का विश्लेषण करते हुए औषधि की व्यवस्था जोड़ी गई।

मानस के समाज परक दर्शन के पीछे जो दृष्टि कार्य कर रही है उसे भी पूरी तरह हृदयङ्गम किया जाना चाहिये। संहार के क्षणों में श्रीकृष्ण ने अर्जुन की लोकपरक दृष्टि पर जो कटाक्ष किया उससे यह भ्रान्ति होना स्वाभाविक है कि वे लोक कल्याण की भावना को हेय मान कर आत्म निष्ठा को ही सर्वाधिक महत्व देते हैं। ऐसा निष्कर्ष एकांगी होगा। सृष्टि का संरक्षण और संहार सभी ईश्वर के कार्य हैं। पूर्ण होने के कारण उसके सभी कार्य पूर्ण होते हैं। संहार की मुद्रा में वह जिस सत्य का उद्घाटन करता है उसे सार्वकालिक मानकर सर्वत्र उसी का प्रतिपादन स्वयं श्रीकृष्ण के प्रति अन्याय है। सृजन और संरक्षण के क्षण में उसका दर्शन, मनोभाव और विश्लेषण सर्वथा भिन्न होता है। श्रीकृष्ण ने उतंक मुनि को उपदेश देते हुए इस तत्त्व को बड़ी विलक्षण रीति से प्रगट किया—'भार्गव, मैं ही विष्णु, मैं ही ब्रह्मा और इन्द्र भी मैं ही हूँ। प्राणि समुदाय का सृजन और संहार भी मेरे द्वारा ही सम्पन्न होता है। अधर्म में लगे हुए प्राणियों को दण्ड देकर धर्म मार्ग का प्रवर्तन करनेवाला अच्युत मैं ही हूँ। जब-जब युग का परिवर्तन होता है मैं प्रजा की भलाई के लिए अवतरित होता हूँ और धर्म मर्यादा की स्थापना करता हूँ। मैं जब जिस योनि में अवतार लेता हूँ उसी जाति की

आचार परम्परा का पालन करता हूँ। देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस जिस रूप में भी मैं जन्म लेता हूँ उसी जाति के आचरण के अनुकूल अभिनय करता हूँ'—

अधर्मे वर्तमानानां सर्वेषामहमच्युतः।
धर्मस्य सेतुं बध्नामि चलिते चलिते युगे।
तास्ता योनीः प्रविश्याहं प्रजानां हितकाम्यया॥
यदा त्वहं देवयोनौ वर्तामि भृगुनन्दन।
तदाहं देववत् सर्वमाचरामि न संशयः॥
यदा गन्धर्वयोनौ वा वर्तामि भृगुनन्दन।
तदा गन्धर्ववत् सर्वमाचरामि न संशयः॥
नागयोनौ यदा चैव तदा वर्तामि नागवत्।
यक्षराक्षसयोन्योस्तु यथावद् विचराम्यहम्॥
मानुष्ये वर्तमाने तु कृपणं याचितामया।
न च ते जात सम्मोहा वचोऽगृह्णन्त मे हितम्॥

ईश्वर की प्रत्येक लीला में यही दर्शन विद्यमान है अतः संहार के क्षणों में यदि वे रुद्र के रूप में दिखाई देते हैं तो पालनकर्ता के लिये विष्णु का मागंलिक रूप बना लेते हैं। श्री कृष्ण के रूप में जब गीता ज्ञान का उपदेश देते है तब वे मुख्यतः भूभार हरण का कार्य पूर्ण करते हैं। अतः गीता ज्ञान का मुख्य आधार उसी कार्य के अनुकूल है। भगवान राम के रूप में अवतार मुख्य रूप से 'अभय दान' और 'शरणागत वत्सलता' के लिए हुआ है। भूभार का हरण भी इस लीला में सम्मिलित है पर कुल मिलाकर यह कार्य उनके चरित्र में अत्यन्त सीमित काल में सम्पन्न हो गया है शेष समय में वे एक दिव्य राज्य के निर्माण का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। अतः उनके उपदेशों में जिन बातों पर अधिक बल दिया गया है उनका केन्द्र गीता से भिन्न है।

भगवान् राम अयोध्या के नागरिकों को उपदेश देते हुए सर्व प्रथम मनुष्य शरीर की दुर्लभता का प्रतिपादन करते हैं। बड़े भाग्य से मनुष्य का शरीर प्राप्त होता है। सभी ग्रन्थों ने यह प्रतिपादन किया है कि यह शरीर देवताओं के लिए भी दुर्लभ है। यह साधनों का धाम और मोक्ष का द्वार है।

बड़े भाग मानुष तन पावा।
सुर दुर्लभ सब ग्रन्थनि गावा॥
साधन धाम मोक्ष कर द्वारा।
पाइ न जेइ परलोक सँवारा॥

यह गीता के स्वर से किंचित् भिन्न है। श्रीकृष्ण शरीर की अनित्यता का प्रतिपादन करते हैं। 'आत्मा नित्य है और शरीर तो क्षणभंगुर है अतः देहान्तर को पाकर बुद्धिमान मोहित नहीं होते। जैसे पुराने वस्त्रों को उतार कर व्यक्ति नए वस्त्र धारण करता है उसी तरह जीवात्मा पुराने शरीरों को छोड़कर नवीन शरीर ग्रहण करता है।' यह भिन्नता स्वाभाविक है। शरीर को तुच्छ मान कर उसके द्वारा साधना और निर्माण सम्भव नहीं है। अतः जीवन निर्माण के लिए यही मान्यता उपयोगी है जिसका वर्णन भगवान राम ने किया है किन्तु देह के प्रति और गौरव-बुद्धि युद्ध क्षेत्र में बाधक है अतः वहाँ देह की अनित्यता और आत्मा की नित्यता का सिद्धान्त ही उपयोगी है। भगवान राम भी ऐसे अवसरों पर इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। बालि की मृत्यु के पश्चात् शोक ग्रस्त तारा को सान्त्वना देने के लिए उन्होंने भी यही कहा कि, पंचतत्वों के द्वारा रचित यह शरीर अनित्य है और जीव नित्य है इसलिए तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए।

छिति जल पावक गगन समीरा।
पंच रचित अति अधम शरीरा॥
प्रगट सो तनु तव आगे सोवा।
जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा॥

अतः प्रश्न केवल इतना ही नहीं है कि यथार्थ सिद्धान्त क्या है? मुख्य समस्या यह है कि देश काल और व्यक्ति के सन्दर्भ में किसके लिए क्या ठीक है। अनित्यता के सिद्धान्त का दुरुपयोग भी सम्भव है। इसका दृष्टान्त है रावण के चरित्र में। मेघनाद की मृत्यु पर शोक ग्रस्त मन्दोदरी और अन्य रानियों को सान्त्वना देने के लिए वह भी सृष्टि की नश्वरता का उपदेश देता है।

तब दसकंठ बिबिध बिधि समुझाई सब नारि।
नस्वर रूप जगत सब देखहु हृदयँ बिचारि॥

स्वयं देहासक्त होते हुये भी दूसरों के वैराग्य का उपदेश देना और अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए दूसरों को मर-मिटने की प्रेरणा देना इन सिद्धान्तों को सर्व उपहास्पद बना देना है। भगवान राम के द्वारा अनित्यता का प्रतिपादन सर्वथा भिन्न रूप में होता है। बालि के ऊपर बाँण का प्रहार करने के बाद वे स्वयं उसके सामने आ जाते हैं। बालि पहले उनके ऊपर अधर्म का आरोप लगाता है। पर भगवान राम द्वारा दिए गए उत्तर से उसे अपनी त्रुटि का ज्ञान हो जाता है। पश्चाताप भरे हृदय से वह शरणापन्न होता है। उसने व्याकुल स्वर में पूँछा कि क्या आपके समक्ष पहुँच जाने पर भी मेरे पापों का परिमार्जन नहीं हुआ।

सुनहु राम स्वामी सन चल न चातुरी मोरि।
प्रभु अजहूँ मैं पापी अंतकाल गति तोरि॥

बालि के पश्चाताप से द्रवित श्री राम भद्र उसे अमर बनाने के लिये प्रस्तुत हो जाते हैं किन्तु बालि ने नम्रतापूर्वक इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। उसे लगा कि अनित्य शरीर का विनाश तो अवश्यम्भावी ही है भले ही वह अमरता के नाम पर दीर्घकालिक ही क्यों न हो। मृत्यु का इससे श्रेष्ठ बानक क्या होगा ? राम मेरे समक्ष खड़े हैं उनके मंगलमय मुख का दर्शन करते हुए प्राण का परित्याग करके मैं मृत्यु को भी धन्य क्यों न बना लूं। बालि ऐसी उदात्त मनःस्थिति में प्राण का परित्याग करता है।

अचल करौं तनु राखहु प्राना।
बालि कहा सुनु कृपा निधाना॥
जन्म जन्म मुनि जतनु कराहीं।
अंत राम कहि आवत नाहीं॥
जासु नाम बल संकर कासी।
देत सबहि सम गति अबिनासी॥
मम लोचन गोचर सोइ आवा।
बहुरि कि प्रभु अस बनिहि बनावा॥

× × ×

राम चरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग।
सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग॥

शरीर का परित्याग करते हुए स्वयं बालि जिस मनःस्थिति में था उसको दृष्टिगत रखकर बालि पत्नी तारा को किया गया भगवान राम का उद्बोधन सर्वथा सार्थक प्रतीत होता है।

गीता और मानस में समान रूप में शरीर के मिथ्यात्व का प्रतिपादन किए जाने पर भी मात्रा का भेद है। गीता में यह स्वर अधिक मुखर है। मानस में यह ध्वनि सुनाई तो देती है पर इसकी तुलना में शरीर की दुर्लभता और उसके सदुपयोग का स्वर बहुत ऊँचा है। यहाँ मृत्यु से भय तो नहीं है पर शरीर त्याग का कोई उतावलापन भी नहीं है। कागभुशुण्डि को इच्छा मृत्यु का वरदान प्राप्त है पर वे शरीर का परित्याग करने में कोई रुचि नहीं रखते क्योंकि उनकी दृष्टि में भजन के लिए शरीर अपेक्षित है और जिस शरीर से साधना सम्पन्न होती है उसके परित्याग की आकाँक्षा अस्वाभाविक है।

तजउँ न तनु निज इच्छा मरना।
तन बिनु बेद भजन नहिं बरना॥
ताते यह तन मोहि प्रिय भयउ राम पद नेह।
निज प्रभु दरसन पायउँ गयउ सकल सन्देह॥

भगवान राम भी अपनी प्रजा को उपदेश देते हुए शरीर के सदुपयोग पर बल देते हैं। उनकी दृष्टि में मानव शरीर का सदुपयोग करते हुए व्यक्ति को काल, कर्म, गुण और स्वभाव के घेरे से स्वयं को मुक्त कर लेना चाहिए। सारे विश्व के प्राणी काल, कर्म, स्वभाव और गुण से प्रेरित होकर भटक रहे हैं। ईश्वर की कृपा से यह मानव शरीर प्राप्त होता है इसीलिए कि व्यक्ति इन चारों से ऊपर उठ सके। यदि पुरुषार्थ और साधना के द्वारा इन समस्याओं का समाधान न पाकर व्यक्ति काल, कर्म और ईश्वर पर दोष डालना चाहता है तो यह उसका आत्म-घात है।

आकर चारि लच्छ चौरासी।
जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा।
काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही।
देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो।
सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो ।।
करनधार सदगुर दृढ़ नावा।
दुर्लभ साज सुलभ करि पावा।।
जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ।।

× × ×

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ।।

सौम्य भाषा में यह पुरुषार्थ का स्वर है। इस पुरुषार्थ में अहंकार न होकर ईश्वर की कृपा का संबल है। उसके प्रति कृतज्ञता है और काल कर्म स्वभाव गुण से ऊपर उठने का दृढ़ संकल्प है। राम राज्य का वर्णन करते हुए इस संकल्प की सफलता को प्रमाणिक रूप दे दिया गया।

राम राज नभगेस सुनु सचराचर जग माहिं।
काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहि।।

गीता का स्वर पुरुषार्थ के ओज से भरा हुआ होने पर भी अन्तरंग में नियतिवादी है। मैं जानता हूँ—इस पर अधिकाँश अध्येता चौंकेंगे क्योंकि प्रचिलित धारणा से यह सर्वथा भिन्न है पर अन्तरंग में बैठकर विचार करने पर इस धारणा की वास्तविकता स्पष्ट परिलक्षित होगी। अर्जुन को जिन शब्दों में युद्ध के लिए उत्तेजित किया गया है वह ओज और कर्त्तव्य की भावना से ओत-प्रोत है पर ओजस्वी शब्दों के पीछे नियति के स्वर भी स्पष्ट हैं। नियति के लिए यहाँ 'अपरिहार्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। अपरिहार्य का तात्पर्य है जिसे किसी उपाय से रोका न जा सके। श्री कृष्ण कहते हैं 'जो अपरिहार्य है उसके लिए शोक करना व्यर्थ है।'

"तस्मादपरिहार्येऽर्थेन न त्वं शोचितुमर्हसि"

महर्षि उतंक को उत्तर देते हुए श्री कृष्ण उनसे स्पष्ट कह देते हैं कि 'काल की गति का रोका जाना किसी प्रकार सम्भव नहीं है।

कृतो यत्नो मया पूर्वं सौशाम्ये कौरवान् प्रति ।
नाशक्यन्त यदा साम्ये ते स्थापयितुमञ्जसा ॥
ततस्ते निधनं प्राप्ताः सर्वे ससुतबान्धवाः ।
न दिष्टमप्यतिक्रान्तु शक्यं बुद्ध्या बलेन वा ॥

'महर्षि मैंने कौरवों को शान्त करने का पूरा प्रयास किया किन्तु किसी भी तरह वे सन्धि के लिए प्रस्तुत नहीं हुए। अतः वे अपने बन्धुओं सहित मारे गए। प्रारब्ध के विधान को कोई बुद्धि और बल से नहीं टाल सकता।' प्रारब्ध के प्रति इसी दृष्टि कोण के कारण वे समत्त्व और निष्काम कर्मयोग पर इतना बल देते हैं।

मानस में भी प्रारब्ध की प्रबलता के अनेक दृष्टान्त प्रस्तुत किए गए हैं किन्तु उसे सर्वथा अपरिहार्य नहीं माना गया है। देवर्षि नारद प्रारब्ध की प्रबलता का प्रतिपादन करने के बाद उसके परिहार का उपाय भी बताते हैं। प्रारम्भ में वे भी उन्हीं शब्दों का प्रयोग करते हैं।

कह मुनीस हिमवंतु सुनु जो बिधि लिखा लिलार।
देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेटनिहार॥

किन्तु अगले ही क्षण वे यह भी घोषित कर देते हैं कि भगवान शिव की कृपा से प्रारब्ध का निवारण किया जा सकता है।

जौं तपु करै कुमारि तुम्हारी।
भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी॥

प्रारब्ध को परिवर्तित करने के लिए देवर्षि नारद ने जो उपाय बताया वह तात्त्विक दृष्टि से भी बड़ा महत्वपूर्ण है। उनकी दृष्टि में तपस्या और शिव कृपा के संयोग से असाध्य प्रारब्ध को साध्य के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। केवल अपने पुरुषार्थ मात्र से प्रारब्ध में परिवर्तन सम्भव नहीं है। प्रारब्ध व्यक्ति के पूर्वकृत कर्मों का ही परिणाम है। एक बार जब कर्म अपने परिणाम की सृष्टि कर चुका हो तब नवीन कर्म किसी नए शुभ परिणाम का प्रापक तो बन सकता है किन्तु प्रारब्ध के निवारण में उसकी उपयोगिता नहीं हो सकती। हत्या के अपराध में मृत्युदण्ड प्राप्त अपराधी किसी भी सत्कर्म के द्वारा मृत्युदण्ड से स्वयं मुक्त नहीं हो सकता किन्तु यह सम्भव है कि राष्ट्रपति अन्य विशेषताओं को दृष्टिगत रखकर अपने दया के विशेषाधिकार से उसे मुक्त कर दे।

भगवान शिव सृष्टि के नियन्ता हैं अतः वे साधक के तीव्र तप से द्रवित होकर उसे प्रारब्ध परिणाम से मुक्ति दिला सकते हैं। शिव विश्वास के भी घनीभूत रूप हैं।

"भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ"

तप में प्रकृति के सारे नियमों को परिवर्तित करने का दृढ़ संकल्प विद्यमान है। तपस्वी शरीर शास्त्र की सारी मान्यताओं को झुठलाकर मन संकल्प की महिमा को प्रगट करता है। शरीर शास्त्र की दृष्टि से शरीर अन्न, जल, वायु आदि के अभाव में जीवित नहीं रह सकता। तपस्या के काल में तपस्वी क्रमशः इनका परित्याग करता हुआ प्रचिलित नियम का अपवाद बन जाता है। प्रारब्ध परिवर्तन के लिए इसी प्रकार के प्रबल संकल्प का होना आवश्यक है। अन्न, जल, वायु का परित्याग कर तपस्वी का जीवित रहना यह प्रमाणित करता है कि उसने जीवनी शक्ति के किसी नए केन्द्र से स्वयं को जोड़ लिया है। आध्यात्मिक दृष्टि से हम उसे ईश्वर कह कर पुकारते हैं। ठीक इसी तरह प्रारब्ध को परिवर्तित करने के लिए कर्म चक्र से सम्बद्ध व्यक्ति को कर्म चक्र के स्थान पर स्वयं को ईश्वर से जोड़ देना होगा। ईश्वर शुभाशुभ कर्मों से मुक्त है इसीलिए उससे सम्बद्ध होते ही व्यक्ति कर्म नियमन की प्रक्रिया से मुक्त हो जाता है। किन्तु यह एक जटिल प्रक्रिया है। बिरले व्यक्ति ही कठिन साधना से प्रारब्ध बन्धन से मुक्त हो पाते हैं। ऐसी स्थिति में गीता में एक ऐसी प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है जिसमें प्रारब्ध अपने परिणाम की सृष्टि करता हुआ भी व्यक्ति के अन्तःकरण को प्रभावित नहीं कर पाता।

ऋतु परिवर्तन की प्रक्रिया को भी दो ही प्रकार से अस्वीकार किया जा सकता है। ग्रीष्म ऋतु के ताप और शीत ऋतु की कँपाने वाली ठंड से बचने के लिए व्यक्ति या तो वातानुकूलित भवन का निर्माण करे या फिर शरीर को ही इतना सहिष्णु बना ले कि ऋतु परिवर्तन की प्रक्रिया से उसका शरीर प्रभावित न हो। श्री कृष्ण वातानुकूल के स्थान पर सहिष्णुता को अधिक महत्व देते हैं। वे अर्जुन को उपदेश देते हुए इसी तथ्य पर बल देते हैं।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

'हे कुन्ती पुत्र ! सर्दी, गर्मी और सुख, दुःख को देने वाले इन्द्रिय और विषयों के संयोग तो उत्पत्ति, विनाशशील और अनित्य हैं, इसलिए हे भारत ! उनको तू सहन कर।'

सहिष्णुता, समत्व और निष्कामता को मानस में भी महत्व दिया गया है किन्तु गीता के समान वह मानस का मुख्य केन्द्र नहीं है। गीता का आदर्श पुरुष स्थित प्रज्ञ है किन्तु मानस का सर्वोत्कृष्ट आदर्श संतत्व में निहित है। संत और स्थित प्रज्ञ में अनेक सद्गुण समान होते हुए भी दोनों के जीवन दर्शन में भिन्नता है। इन दोनों के साम्य और भिन्नता पर अधिक विस्तृत विचार की अपेक्षा है।

गीता के द्वितीय अध्याय में अर्जुन स्थित प्रज्ञ के लक्षणों के सन्दर्भ में जिज्ञासा प्रकट करते हैं।

"स्थित प्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत् किम्॥

स्थित प्रज्ञ की परिभाषा करते हुए श्री कृष्ण ने इन वाक्यों का प्रयोग किया।

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥
यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।।
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।।
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।।
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ।।
इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ।।
तस्माद्यस्य महा बाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।
या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ।।
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ।।

इसकी तुलना में श्री भरत की जिज्ञासा के उत्तर में भगवान राम द्वारा कथित सन्त लक्षणों को रक्खा जा सकता है। श्री भरत नम्रता भरे स्वर में प्रश्न करते हैं।

संतन्ह कै महिमा रघुराई।
बहु बिधि बेद पुरानन्ह गाई ।।
श्री मुख तुम्ह पुनि कीन्हि बड़ाई।
तिन्ह पर प्रभुहि प्रीति अधिकाई ।।
सुना चहउँ प्रभु तिन्ह कर लच्छन।
कृपा सिंधु गुन ग्यान बिचच्छन ।।

भगवान राम ने बड़े ही भाव भरे शब्दों में संतों का लक्षण बताते हुए उनकी सराहना की—

संतन्ह के लच्छन सुनु भ्राता।
अगनित श्रुति पुरान बिख्याता॥
संत असंतन्हि कै असि करनी।
जिमि कुठार चंदन आचरनी॥
काटइ परसु मलय सुनु भाई।
निज गुन देइ सुगंध बसाई॥

ताते सुर सीसन्ह चढ़त जग बल्लभ श्री खंड।
अनल दाहि पीटत घनहिं परसु बदन यह दंड॥

बिषय अलंपट सील गुना कर।
पर दुख दुख सुख सुख देखे पर॥
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी।
लोभा मरष हरष भय त्यागी॥
कोमल चित दीनन्ह पर दाया।
मन बच क्रम मम भगति अमाया॥
सबहि मानप्रद आपु अमानी।
भरत प्रान सम मम ते प्रानी॥
बिगत काम मम नाम परायन।
सांति बिरति बिनती मुदितायन॥
सीतलता सरलता मयत्री।
द्विजपद प्रीति धर्म जनयत्री॥
ए सब लच्छन बसहिं जासु उर।
जानेहु तात संत संतत फुर॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं।
परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥

निंदा अस्तुति उभय सम ममता मम पद कंज।
ते सज्जन मम प्रान प्रिय गुन मंदिर सुख पुंज॥

यद्यपि गीता में स्थितप्रज्ञ की परिभाषा बड़े विस्तार से की गई है किन्तु उसका मूल सूत्र प्रथम श्लोक में ही निहित है। भगवान कृष्ण ने

कहा 'हे अर्जुन जिस काल में यह पुरुष मन में स्थित सभी कामनाओं को भली भाँति त्याग देता है और आत्मा से आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है उस काल में वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है।'

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थितप्रज्ञता का आधार आत्म-निष्ठा है। जिस व्यक्ति को स्वयं के सन्तोष के लिए किसी बहिरंग वस्तु की अपेक्षा नहीं है वही स्थितप्रज्ञ कहलाने का अधिकारी है। दूसरी ओर सन्त लक्षण का मुख्य केन्द्र लोक मंगल की भावना है। क्योंकि भगवान राम सन्त की तुलना उस चन्दन वृक्ष से करते हैं जो अपने ऊपर प्रहार करने वाली कुल्हाड़ी को भी सुगन्धित बना देता है। यदि स्थित-प्रज्ञता का आधार विवेक है तो सन्तत्व का आधार चरित्र है। स्थित-प्रज्ञ सर्वथा निरपेक्ष है और उसे स्वसुख के लिए किसी बहिरंग वस्तु की अपेक्षा नहीं है, किन्तु सन्तत्व के लिए केवल इतना ही यथेष्ट नहीं है कि वह स्वयं में सन्तुष्ट हो अपितु उसकी कसौटी तो यह है कि वह दूसरों को कितना देता है। स्थितप्रज्ञ दुःखों की उपलब्धि में उद्विग्न नहीं होता और सुखों की प्राप्ति में भी वह सर्वथा निस्पृह रहता है। उसमें राग, भय और क्रोध का अभाव रहता है। आत्म-निष्ठा के पश्चात् स्थितप्रज्ञ की परिभाषा करते हुए भगवान कृष्ण ने उपरोक्त मनःस्थिति को स्थित-प्रज्ञता के दूसरे आधार के रूप में देखा। किन्तु सन्त भले ही अपने दुःख से उद्विग्न न हो स्वयं के लिए उसमें सुख की अभिलाषा का भी अभाव हो फिर भी यदि वह दूसरे के सुख दुःख से प्रभावित नहीं होता तो वह सन्त कहलाने का अधिकारी नहीं है। सन्त का लक्षण है—

विषय अलंपट सील गुनाकर।
पर दुख दुख सुख सुख देखे पर॥

स्थितप्रज्ञ और सन्त दोनों ही दुर्गुण शून्य हैं। जहाँ तक अवगुणों के अभाव का सम्बन्ध है गीता और मानस में लक्षणों की चर्चा की गई है। स्थितप्रज्ञ विषयों से अनासक्त है। उसने स्वयं को कछुए के समान भीतर समेट लिया है उसकी विषयों के प्रति आसक्ति समाप्त हो गई है! सन्त लक्षण में भी 'विषय अलंपट' कह कर इसी स्थिति की चर्चा की गई है। स्थितप्रज्ञ राग, द्वेष शून्य है। 'सम अभूतरिपु' कह कर भी सन्त में इन्हीं लक्षणों का संकेत किया गया है। स्थितप्रज्ञ का मुख्य उद्देश्य परम शान्ति की उपलब्धि है। कृष्ण स्थितप्रज्ञ के लक्षणों का उपसंहार करते हुये

दो श्लोकों में इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं। 'जैसे नाना नदियों के जल सब ओर से परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में उसको विचलित न करते हुए समा जाते हैं वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुष में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किए बिना ही समा जाते हैं, वही पुरुष परम शान्ति को प्राप्त होता है भोगों को चाहनेवाला नहीं।' 'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग कर ममता रहित, अहंकार रहित और स्पृहा रहित हुआ विचरता है, वही शान्ति को प्राप्त होता है।' सन्त लक्षण में भी शान्ति की चर्चा की गई है। 'शान्ति बिरति बिनती मुदितायन' किन्तु सन्त लक्षण की समाप्ति उन्हें सुख पुंज कह कर की गई—

निंदा अस्तुति उभय सम ममता मम पद कंज।
ते सज्जन मम प्रान प्रिय गुन मंदिर सुख पुंज॥

संत सुख पुंज है और सुख का वितरण उसका स्वभाव है। शान्ति वितरण की वस्तु नहीं है वह सर्वथा एकान्तिक वस्तु है। उसकी अनुभूति अकेलेपन में होती है। यह आत्म-निष्ठा का स्वाभाविक परिणाम है। स्थितप्रज्ञ ममता रहित है क्योंकि वह जानता है कि ममता के द्वारा रागद्वेष सुख दुःख के चक्र में पड़कर शान्ति खो जाती है। किन्तु सन्त ममता का परित्याग न कर उसे प्रभु के चरणों में अर्पित कर देता है। सुख स्वरूप भगवान से सम्बद्ध होकर वह निरन्तर सुख का वितरण करता रहता है। 'ममता मम पद कंज' कहकर इसी तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है। इस तुलना से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थित-प्रज्ञ के रूप में गीता में जिस आदर्श का चित्र प्रस्तुत किया गया है वह लोकनिष्ठ न होकर आत्मनिष्ठ है, जिसका कर्म सबके सुख के लिए है।

गीता के अन्य अध्यायों में महापुरुषों के जिन लक्षणों की चर्चा की गई है मानस के सन्त लक्षणों से उनका अत्यधिक साम्य है। फिर भी श्री कृष्ण अर्जुन को स्थितप्रज्ञता की ओर ले जाना चाहते थे क्योंकि अर्जुन के समक्ष जो परिस्थितियाँ विद्यमान थीं और श्रीकृष्ण उनसे जो काम लेना चाहते थे उसमें स्थितप्रज्ञता का ही दर्शन उपयोगी था। भूमिका में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि द्वापर युग में लोकनिर्माण की सम्भावनाएँ अत्यन्त अल्प थीं। एक ऐसी अन्धकारमयी रात्रि में, जब चारों ओर तूफान

चल रहा हो, उस समय दीपक लेकर अन्धकार के पीछे भागना पूरी तरह निरर्थक है क्योंकि उसका परिणाम अपने दीपक का भी पूरी तरह बुझ जाना होगा। उस समय व्यक्ति का सबसे बड़ा कर्तव्य यही है कि वह अपने कक्ष में दीपक को निष्कम्प जलने दे। तूफान के समाप्त होने के बाद अनेक लोग अपने बुझे हुए दीपकों को प्रज्वलित करने के लिए निष्कम्प दीप शिखा के पास आवेंगे। ऐसी स्थिति में अपने दीप की सुरक्षा में संलग्न व्यक्ति का स्वार्थ ही परमार्थ का हेतु बन जावेगा। द्वापर युग का वह काल भी तूफानी रात्रि के समान अन्धकार और भय से भरा था। अर्जुन उस अन्धकार के पीछे अपने विवेक का दीपक लेकर भागना चाहता था। श्रीकृष्ण उसे इस असम्भव प्रयास से विरत कर देते हैं। वे उसे आदेश देते हैं कि तुम स्थितप्रज्ञ बनो, तुम अपने विवेक को विनष्ट मत होने दो। वे जानते थे कि विनाश निश्चित है। ऐसी स्थिति में उन्होंने व्यक्ति और सिद्धान्त की सुरक्षा का मार्ग अपनाया। आदर्श के नाम पर किया गया बलिदान तत्काल भले ही फलदायी न दिखाई दे किन्तु वह आगे आनेवाली पीढ़ियों के लिए प्रेरक बन जाता है। यद्यपि यह कहा जाता है कि धर्म और सत्य की ही सर्वदा विजय होती है पर इसका एक दूसरा पक्ष भी है। कभी-कभी यह दिखाई देता है कि धार्मिक अथवा सत्यवादी व्यक्ति परास्त हो गया। ऐसे दृष्टान्तों से अनेक व्यक्ति संशयालु हो उठते हैं किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह धारणा सर्वथा भ्रान्त सिद्ध हो जाती है। यदि कोई व्यक्ति विजय को दृष्टिगत रखकर धर्म का पालन करे तब ऐसी स्थिति में हम उसे पूर्ण धार्मिक कह ही नहीं सकते हैं। सच्चा धार्मिक व्यक्ति वास्तविक अर्थों में कभी परास्त नहीं होता है। जब वह विजय प्राप्त करता है तब तो वह विजयी होता ही है किन्तु यदि वह लोक दृष्टि से परास्त भी हो जाय तब भी वह अपनी दृष्टि में पराजित नहीं होता। क्षणिक विजय के लोभ से धर्म का अनेक व्यक्ति परित्याग कर देते हैं। किन्तु अपनी आस्था पर अडिग रहनेवाला व्यक्ति इस सन्तोष का अनुभव करता है कि मृत्यु का भय और विजय का लोभ भी उसे अपने पथ से विचलित नहीं कर पाया। ऐसी मनःस्थिति में उस व्यक्ति को पराजित माननेवाला जय और पराजय के वास्तविक अर्थ को नहीं जानता। श्री सीता को रावण के द्वारा अपहृत होते देखकर वृद्ध गीधराज उसे चुनौती देते हैं। बहिरङ्ग दृष्टि से गीधराज रावण के समक्ष पराजित होते हैं और उनकी मृत्यु हो जाती है किन्तु क्या यह उनकी पराजय थी?

उनको इस पराजय पर शत-शत विजय निछावर है। क्योंकि उन्होंने मृत्यु द्वारा सच्ची अमरता प्राप्त की और लोगों को बलिदान का प्रशस्त पथ दिखा दिया—

मुए मरहि मरिहहिं सकल आजु कालि के बीच।
तुलसी काहू नहि लही गीधराज की मीच॥

इसीलिए श्रीकृष्ण अर्जुन को जय-पराजय, लाभ-हानि में सम रहने की प्रेरणा देते हैं। बहिरङ्ग दृष्टि से सन्त की तुलना में स्थितप्रज्ञ में स्वार्थ की कल्पना हो सकती है। पर उपरोक्त विचारों के सन्दर्भ में यह स्पष्ट हो जाता है कि उस युग की वही आवश्यकता थी।

भगवान राम का युग सन्त भावना का युग है। वहाँ व्यक्ति केवल अपने ही आत्म कल्याण की चिंता नहीं करता। वह लोक कल्याण के लिए अपनी मुक्ति का भी परित्याग करने के लिए प्रस्तुत दिखाई देता है। इसीलिए वह मुक्ति के स्थान पर भक्ति का ही वरण करना चाहता है—

अस बिचारि जे परम सयाने।
मुकुति निरादर भगति लुभाने॥

सन्त की आत्मनिष्ठा स्थितप्रज्ञ को आत्मनिष्ठा से भिन्न प्रतीत होती है। सन्त की आत्मनिष्ठा का व्यावहारिक रूप यह है कि वह सर्वत्र एक अद्वय आत्मतत्व का दर्शन करता है या मानस की भाषा में यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि वह सर्वत्र अपने प्रभु का ही दर्शन करता है। अतः ऐसी स्थिति में वह सबकी सेवा में प्रभु की सेवा ही देखता है—

सो अनन्य गति जाके मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

इसीलिए मानस में सर्वत्र सन्त लक्षण की चर्चा करते हुए केवल उसके विवेक को ही नहीं भाव और क्रिया कलाप को भी लक्षणों के रूप में देखा गया है—

पर उपकार बचन मन काया।
संत सहज सुभाव खग राया॥

× × ×

संत सहहिं दुख परहित लागी।
पर दुख हेतु असंत अभागी॥

× × ×

भूर्ज तरु सम संत कृपाला।
परहित निस सह बिपति बिसाला ।।

स्थितप्रज्ञ सृष्टि के स्वरूप से परिचित है। इसलिए वह सृजन और संहार को समान रूप से स्वीकार करता है। अर्जुन को यही दृष्टि भगवान श्रीकृष्ण विराट् रूप का दर्शन कराते हुए प्रदान करते हैं। भगवान के विराट् रूप और उसमें दिखाई देनेवाली उग्रता को देखकर अर्जुन भयभीत होकर उनसे प्रश्न करता है, 'आप कौन हैं?' तब भगवान अपना परिचय काल के रूप में देते हैं—'मैं काल हूँ और इस समय लोकक्षय में प्रवृत्त हुआ हूँ। इसलिए जो प्रतिपक्षियों की सेना में स्थित योद्धा लोग हैं, वे सब तेरे बिना नहीं रहेंगे' अर्थात् तेरे युद्ध न करने पर भी इन सबका विनाश अवश्यंभावी है—

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ।।
(गीता ११/३१)

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ।।
(गीता ११/३२)

अर्जुन ने जिस विराट् रूप का साक्षात्कार किया उसमें उन सारी आशंकाओं का उत्तर था जो अर्जुन को व्यथित बना रही थीं। प्रारम्भ में उसे यही प्रतीत हो रहा था कि लोभग्रस्त दुर्योधन के दुराग्रह के कारण ही यह युद्ध हो रहा है और मैं भी उसी श्रेणी में माना जाऊँगा। भगवान ने अर्जुन को इस धारणा से मुक्त करने के लिए विविध रूपों में उपदेश दिये किन्तु उन सबमें महत्त्वपूर्ण यह विराट् रूप का साक्षात्कार था, जहाँ सृजन ही नहीं संहार के मूल में भी ईश्वर का संकल्प ही कार्य करता हुआ दिखाई देता है। ऐसी स्थिति में स्थितप्रज्ञता में अवस्थिति स्वाभाविक है। सन्त करुणा से प्रेरित होकर सृजन और निर्माण के लिए प्रयत्नशील रहता है। स्थितप्रज्ञ की सृजन और संहार में समान दृष्टि है।

भगवान श्रीकृष्ण श्रेय की उपलब्धि के लिए गीता में दो प्रकार की निष्ठाओं का उपदेश देते हैं जिनका नामकरण उन्होंने किया—१. ज्ञान-योग और २. कर्मयोग

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥

श्रीकृष्ण ने कहा 'हे अनघ्य अर्जुन, इस लोक में दो प्रकार की निष्ठाओं का वर्णन मेरे द्वारा किया गया है। उनमें से सांख्य योगियों की निष्ठा ज्ञानयोग से और योगियों की निष्ठा कर्मयोग से होती है।'

निष्ठाओं का यह द्विविध विभाजन अनेक लोगों को चौंकाता है क्योंकि इस विभाजन से ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे गीता में भक्तियोग को स्वीकृति प्रदान नहीं की गई है। प्राचीन शास्त्रीय परम्परा के अनुकूल बहुधा निष्ठा का विभाजन त्रिविध रूपों में किया जाता रहा है, जिन्हें कर्म, ज्ञान और भक्ति का नाम दिया गया है। गीता के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति को उसमें अनुपम गौरव प्रदान किया गया है। अनेक टीकाकारों ने १८ अध्यायों का विभाजन इस त्रयी के आधार पर किया है। उनकी दृष्टि में गीता के छः-छः अध्यायों में कर्म, ज्ञान और भक्ति की प्रधानता है। इस प्रकार का विभाजन प्रति-पादित विषय को देखते हुए युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है। फिर भी यह स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण द्वारा किए गए विभाजन में भक्तियोग का पृथक उल्लेख नहीं है। ऐसा क्यों? इस प्रश्न का उत्तर दो रूपों में दिया जा सकता है।

प्रथम उत्तर तो यह है कि अर्जुन के जीवन में इस समय केवल भक्ति-योग ही विद्यमान है। वह ज्ञानयोग और कर्मयोग से दूर जा पड़ा है। अपने बन्धु-बान्धवों को देखकर उसके अन्तःकरण में मोह का उदय होता है। यह मोह, ज्ञान के अभाव का ही परिचायक है। वह गाण्डीव का परित्याग कर कर्म से विरत हो जाता है किन्तु ऐसी मनःस्थिति में भी वह भक्तिनिष्ठा का परित्याग नहीं करता है। उसकी श्रीकृष्ण पर अविचल श्रद्धा बनी हुई है। इसीलिए वह अपनी समग्र मनःस्थिति का

वर्णन करने के पश्चात् स्वयं को शरणागत के रूप में प्रस्तुत करता हुआ उनसे मार्गदर्शन का अनुरोध करता है—

कार्पण्यदोषोऽपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मांत्वां प्रपन्नम् ॥

मेरा स्वभाव कायरता से उपहत हो चुका है। धर्म के विषय में मेरी बुद्धि मोहित हो गई है। अतः आप मेरे लिए उस साधना का निर्देश कीजिए जिससे मेरा कल्याण हो। मैं आपका शिष्य और शरणागत हूँ।

ऐसी स्थिति में अर्जुन जिन निष्ठाओं से च्युत हुआ है उन पर आरूढ़ करने के लिए ही उपदेश की आवश्यकता है। इसलिए यदि श्रीकृष्ण ने केवल दो ही प्रकार की निष्ठाओं का वर्णन गीता में किया तो यह अर्जुन की आवश्यकता के ही अनुरूप था। वैद्य रोगी के लिए उन्हीं औषधियों का प्रयोग करता है जिनकी रोगी को अपेक्षा होती है। इसलिए गीता में भक्तियोग का पृथक उल्लेख न किए जाने से भक्तियोग का गौरव कम नहीं होता है। एक व्यक्ति की आकृति का वर्णन करते हुए उसके बहिरंग अंग-प्रत्यंगों का ही वर्णन किया जाता है। इस वर्णन में प्राण का प्रत्यक्ष रूप से उल्लेख न होते हुए भी व्यक्ति उसमें प्राण की कल्पना कर ही लेता है क्योंकि प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति यह जानता है कि निष्प्राण शरीर के सौन्दर्य का वर्णन सर्वथा निरर्थक है। गीता के ज्ञानयोग और कर्मयोग की ओर में भक्तियोग प्राण के समान विद्यमान है।

इस प्रश्न का उत्तर एक भिन्न रूप में भी दिया जा सकता है कि गीता में उपासना को कर्मयोग और ज्ञानयोग के अंग के रूप में स्वीकार किया गया है। जब स्वयं को परमात्मा से अभिन्न मानकर उपासना की जाती है तब उसे ज्ञाननिष्ठा का परिणाम कहा जा सकता है। कर्मयोग में की जानेवाली उपासना ईश्वर को स्वयं से भिन्न मानकर की जाती है अतः गीता की द्विविध निष्ठा में ही भक्तियोग अनुस्यूत है।

जहाँ तक रामचरितमानस का सम्बन्ध है उसमें मुख्य रूप से दो ही प्रकार की निष्ठाओं की तुलना की गई है। वे हैं ज्ञानयोग और भक्तियोग। इस तरह जहाँ गीता में ज्ञानयोग और कर्मयोग का उल्लेख किया गया है वहाँ मानस में कर्मयोग के स्थान पर भक्तियोग की स्थापना की गई है। निश्चित रूप से मानस में कर्मयोग की उपेक्षा नहीं है। मानस के सभी प्रमुख पात्र कर्मयोग के अप्रतिम दृष्टान्त हैं किन्तु

मानस की दृष्टि में कर्मयोग भक्तियोग का ही एक अंग है। अस्तु जहाँ गीता में भक्ति योग को विशेष रूप से कर्मयोग के अन्तर्गत मान लिया गया है वहाँ मानस में इसे ठीक भिन्न रूप से देखा गया है। इसलिए गीता में अर्जुन यह जानने के लिए व्यग्र हो उठा कि कर्मनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा में किसे स्वीकार किया जाय। क्योंकि उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि श्रीकृष्ण कर्म की अपेक्षा ज्ञान को श्रेष्ठ मानते हैं और तब उसने श्री कृष्ण से प्रश्न किया कि जब आप कर्म की अपेक्षा ज्ञान को श्रेष्ठ मानते हैं तब मुझे घोर कर्म की ओर क्यों प्रेरित करते हैं ?

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥

रामचरितमानस में पक्षिराज गरुड़ को यह जानकर आश्चर्य होता है कि श्री कागभुशुण्डि ने महर्षि लोमश द्वारा उपदिष्ट ज्ञान को आदर-पूर्वक नहीं ग्रहण किया। गरुड़ की धारणा थी कि ज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ विद्या है। उन्होंने श्री कागभुशुण्डि से स्पष्ट शब्दों में यह प्रश्न किया कि उन्हें ऐसा लगता है कि ज्ञान जैसे दुर्लभ तत्व को भक्ति की तुलना में कम महत्व दिया गया है अतः वे भक्ति और ज्ञान का अन्तर समझाने की कृपा करें—

कहहिं संत मुनि बेद पुराना।
नहि कछु दुर्लभ ग्यान समाना॥
सोइ मुनि तुम्ह सन कहा गुसाईं।
नहिं आदरेहु भगति की नाईं॥
ग्यानहिं भगतिहि अंतर केता।
सकल कहहु प्रभु कृपा निकेता॥

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गीता में जहाँ तुलना का विषय ज्ञानयोग और कर्मयोग है वहाँ रामचरितमानस में यह समस्या ज्ञान-योग और भक्तियोग को लेकर सामने आती है।

इस पार्थक्य के बाद भी यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि रामचरितमानस और गीता में समान रूप से भक्तियोग को महत्व प्राप्त है। आन्तरिक साम्य के होते हुए भी बहिरंग दृष्टि से विभाजन की शैली का अन्तर निरुद्देश्य नहीं है। भगवान कृष्ण के सामने एक ऐसा पात्र है जो कर्म से विरत होना चाहता है। ऐसी स्थिति में कर्मयोग की

गरिमा हो उसे पुनः कर्तव्य पथ पर आरूढ़ कर सकती है। यदि उसके समक्ष कर्मयोग को भक्तियोग के एक अंग के रूप में रक्खा जाता तो उसकी कर्मयोग में श्रद्धा ही नहीं हो सकती थी। अर्जुन की मनःस्थिति का एक चित्र उस वाक्यांश से सामने आ जाता है जब उसे ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण कर्मयोग की अपेक्षा ज्ञान योग को श्रेष्ठ मानते हैं। यद्यपि भगवान श्रीकृष्ण की मान्यता ऐसी नहीं थी किन्तु अर्जुन जिस मनःस्थिति में था उसमें ऐसी भ्रान्ति अस्वाभाविक नहीं थी। वह जिस प्रकार कर्म से पलायन करना चाहता था उसमें स्वभावतः वह किसी ऐसे वाक्य की खोज में था जिससे उसके मनोभाव का समर्थन प्राप्त हो सके। अतः श्रीकृष्ण के वाक्य में इस प्रकार की झलक मिलते ही वह अपना समर्थन करने लग जाता है। भगवान श्रीकृष्ण को बड़े दृढ़ शब्दों में अर्जुन की इस धारणा का खण्डन करना पड़ा। यदि कहीं श्रीकृष्ण ने त्रिविध निष्ठा के रूप में ज्ञान और कर्म के साथ भक्ति को भी सम्मिलित किया होता तो अर्जुन और भी अधिक भ्रान्ति में पड़ जाता। क्योंकि वह दो प्रकार की निष्ठाओं का वर्णन सुनकर ही व्याकुल हो जाता है और स्पष्ट शब्दों में श्रीकृष्ण से अनुरोध करता है—'आप मिले-जुले वाक्यों से मेरी बुद्धि को भ्रान्ति में न डालें और मेरे कल्याण के लिए जो उचित एक मार्ग हो वही मुझे बताने की कृपा करें'—

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥

रामचरितमानस का मूल प्रश्न कर्म के पलायन से सम्बद्ध नहीं है। मानस के श्रोताओं के रूप में जिन पात्रों का उल्लेख किया गया है उनका अन्तर्द्वन्द्व ईश्वर के स्वरूप को लेकर है। पार्वती, गरुड़ और भरद्वाज इन सभी की जिज्ञासा मिलती जुलती है। क्या ब्रह्म निर्गुण निराकार से सगुण साकार हो सकता है ? क्या श्रीराम ईश्वर के अवतार हैं ?

प्रथम सो कारन कहहु बिचारी।
निर्गुन ब्रह्म सगुन बपु धारी ॥

× × ×

भव बंधन ते छूटहिं नर जपि कर जाकर नाम।
खर्ब निसाचर बाँधेउ नागपास सोइ राम ॥

× × ×

एक राम अवधेस कुमारा।
तिन्ह कर चरित बिदित संसारा॥
नाहि बिरह दुखु लहेउ अपारा।
भयउ रोषु रन रावन मारा॥

प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि।
सत्यधाम सर्बग्य तुम्ह कहहु बिबेक बिचारि॥

उपरोक्त पंक्तियों में पार्वती, गरुड़ और भरद्वाज की जिज्ञासा मुखर हो उठी है। अतः यह स्वाभाविक था कि रामचरितमानस में कर्मयोग के स्थान पर भक्तियोग और ज्ञानयोग को ही मुख्य आधार के रूप में प्रस्तुत किया जाता। व्यक्ति के जीवन में दो प्रकार की समस्यायें और उनके सुलझाने का प्रश्न आता है। इन्हें हम 'तात्कालिक' और 'शाश्वत' प्रश्नों का नाम दे सकते हैं। कुछ प्रश्न ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध व्यक्ति की तात्कालिक समस्या से होता है। इस प्रकार के प्रश्न समान रूप से सभी के जीवन में समान रूप से नहीं आते, इस विषय में अधिकांश व्यक्तियों की समस्यायें भिन्न-भिन्न होती हैं। अर्जुन का प्रश्न इसी कोटि में आता है। युद्ध के लिए प्रस्तुत अठारह अक्षौहिणी सेना में एकमात्र अर्जुन ही ऐसा व्यक्ति है जो युद्ध को लेकर अन्तर्द्वन्द्व से पीड़ित है। अतः यह अर्जुन की नितान्त व्यक्तिगत समस्या थी। किन्तु भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते हुए उसे उन प्रश्नों की ओर भी अभिमुख कर दिया जिन्हें हम शाश्वत प्रश्न कह सकते हैं। सृष्टितत्व और ईश्वर का परिज्ञान इसी श्रेणी में आता है।

रामचरितमानस का श्रीगणेश उन शाश्वत प्रश्नों को लेकर होता है जो प्रत्येक काल में मनुष्य की जिज्ञासा के विषय रहे हैं। यह जिज्ञासा उस मूल तत्व के विषय में है जिसे ब्रह्म ईश्वर अथवा परमात्मा कहकर पुकारा जाता है। पर इस जिज्ञासा के उत्तर में भगवान राम का विस्तृत चरित्र मानस में प्रस्तुत किया जाता है। स्वभावतः उसमें बहुत बड़ी संख्या में ऐसे भी पात्र हैं जिनकी तात्कालिक समस्यायें उन्हें अर्जुन की श्रेणी में ला देती हैं। रामचरितमानस में भी शाश्वत और तात्कालिक दोनों ही प्रकार का उत्तर प्राप्त होता है। अतः यह निष्कर्ष निकालना उचित ही होगा कि यद्यपि गीता और रामचरितमानस में दोनों ही प्रकार के प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत किया गया है फिर भी दोनों में केन्द्रगत भिन्नता विद्यमान

है। गीता में व्यक्ति को क्रमशः अपनी व्यक्तिगत समस्याओं से ऊपर उठाकर शाश्वत और विराट प्रश्नों से सम्बद्ध किया गया है। इसीलिए गीता के प्रारम्भ में जहाँ अर्जुन युद्ध न करने की घोषणा करता है वहाँ भगवान श्रीकृष्ण भी प्रारम्भ में कायरता का परित्याग कर युद्ध करने के लिए प्रोत्साहित करने के साथ-साथ उसके प्रश्न को शाश्वत प्रश्नों से जोड़ देते हैं और धीरे-धीरे अर्जुन भी मूल प्रश्न को भूलकर स्वयं को शाश्वत प्रश्नों की जिज्ञासा में लगा देता है। ईश्वर और जीव के वास्तविक स्वरूप और सम्बन्धों को समझ लेने के पश्चात् वह अन्तर्द्वन्द्व से मुक्त हो जाता है और अन्त में ईश्वर के प्रति समर्पित होकर 'करिष्ये वचनं तव' (मैं आपकी आज्ञा पालन करूँगा) की घोषणा करता है।

रामचरितमानस उन शाश्वत प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करता है जिन्हें समझ लेने पर व्यक्ति के समक्ष कर्तव्य कर्म को लेकर अन्तर्द्वन्द्व शेष नहीं रह जाता। भगवान राम के चरित्र के रूप में उसे एक ऐसा व्यक्तित्व प्राप्त हो जाता है जिसके प्रकाश में वह अपना मार्ग पा लेता है। वस्तुतः कर्मयोग और भक्तियोग का सम्बन्ध शरीर और प्राण के समान है। इन दोनों में किसी को श्रेष्ठ और कनिष्ठ कहना कठिन लगता है। जीवन, प्राण और शरीर का समन्वय है। शरीर के अभाव में प्राण की स्थिति कहाँ होगी और यदि प्राण ही न होगा तो शरीर एक शव मात्र रह जायगा और अग्नि में भस्म हो जाना ही उसकी अन्तिम परिणति होगी। शरीर प्रत्यक्ष और प्राण अप्रत्यक्ष। कर्तव्य का निर्वाह शरीर और इन्द्रियों के माध्यम से ही होता है। प्राण के लिए किसी कर्म अथवा कर्तव्य का निर्देश सम्भव नहीं है। फिर भी शरीर के प्रत्येक क्रिया कलाप में प्राण प्रेरक के रूप में विद्यमान है। कर्मयोग और भक्तियोग में किसी को भी प्रमुखता प्रदान की जाय उससे भक्तियोग का गौरव किसी प्रकार कम नहीं होता। इसे हम इन्द्र और विष्णु के सम्बन्ध में भी देख सकते हैं। एक ओर पुराणों में भगवान विष्णु की अनुपम गौरव गाथाओं का उल्लेख है, वे साक्षात् ईश्वर हैं। उनकी तुलना में देवराज इन्द्र नगण्य हैं। इन्द्र का पद पुण्य से प्राप्त होनेवाला परिवर्तनशील पद है। इन्द्र भगवान विष्णु के चरणों में नत होते हैं। किन्तु इसका एक दूसरा भी पक्ष है। पुराणों में विष्णु इन्द्र के लघु भ्राता भी हैं। इसीलिए विष्णु का एक नाम उपेन्द्र भी है। इससे विष्णु का गौरव बढ़ता ही है कि वे इतने निरभिमानी हैं कि बड़े होते हुये भी

किसी के अनुगामी बनकर चलने में संकोच का अनुभव नहीं करते। भक्तियोग की तुलना भगवान नारायण से की जा सकती है। इन्द्र तो कर्मयोग के प्रतीक हैं ही। सत्कर्म के द्वारा प्राप्त होनेवाला इन्द्र का पद कर्म की महान सामर्थ्य का परिचायक है। गीता में कर्मयोग के अनुगामी के रूप में भक्तियोग की स्थिति इन्द्र और उपेन्द्र की स्थिति के सदृश है। रामचरितमानस का कर्मयोग रूपी इन्द्र भक्तियोग के विष्णु के समक्ष सर्वथा प्रणत भाव से उपस्थित है।

रामचरितमानस में प्रयाग के रूप में सन्त समाज का जो रूपक प्रस्तुत किया गया है उसमें त्रिवेणी के रूप में तीनों ही योगों का उल्लेख किया गया है—

> **मुद मंगल मय संत समाजू।**
> **जो जग जंगम तीरथ राजू॥**
> **राम भक्ति जहँ सुरसरि धारा।**
> **सरसइ ब्रह्म बिचार प्रचारा॥**
> **बिधि निषेधमय कलिमल हरनी।**
> **करम कथा रबिनंदनि बरनी॥**
> **हरि हर कथा बिराजति बेनी।**
> **सुनत सकल मुद मंगल देनी॥**

उपरोक्त रूपक में कर्मयोग और भक्तियोग को जमुना और गंगा के रूप में प्रस्तुत किया गया है। प्रारम्भ में गंगा और यमुना का उद्गम अलग-अलग स्थानों में प्रतीत होता है। यद्यपि वे दोनों उद्गम दूर होते हुए भी एक ही हिमालय से सम्बद्ध हैं। एक लम्बी दूरी तक गंगा और यमुना पृथक्-पृथक् बहती हैं किन्तु प्रयाग में पहुँचकर वे दोनों एकाकार हो जाती हैं। कर्मयोग और भक्तियोग भी एक सीमा तक पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं पर एक ऐसी स्थिति आती है जब कर्मयोग और भक्ति-योग में कोई भेद शेष नहीं रह जाता है। प्रयाग से लेकर समुद्र तक की यात्रा में यद्यपि गंगा अकेली प्रतीत होती है पर प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि इस यात्रा में यमुना भी उनके अन्तराल में समाई हुई हैं और अन्त में समुद्र में पहुँचकर गंगा स्वयं को समर्पित कर देती हैं। अतः मानस की दृष्टि में कर्मयोग भक्तियोग में विलीन होकर उससे एकाकार हो जाता है। उसके पश्चात् कर्मयोगी साधक भी भक्तियोग के माध्यम से ही

स्वयं को ईश्वर रूप महोदधि में विलीन कर देता है। यदि मानस के भक्तियोग में कर्मयोग अन्तर्निहित है तो गीता के कर्मयोग में भक्ति-योग ओत-प्रोत है। यह पार्थक्य भी दोनों के परिवेश की भिन्नता को दृष्टिगत रखकर विचार करने पर सर्वथा स्वाभाविक प्रतीत होता है।

गीता में कर्मयोग का विस्तृत विवेचन होना सर्वथा स्वाभाविक था। क्योंकि अर्जुन की मुख्य समस्या थी युद्ध कर्म से उसका वैराग्य। इसलिए श्रीकृष्ण ने कर्म और उसके द्वारा उत्पन्न होनेवाले समस्त प्रश्नों पर बड़ा विस्तृत प्रकाश डाला।

उन्होंने अर्जुन को यह स्पष्ट बता दिया कि कर्म जीवन की बाध्यता है कोई भी व्यक्ति उससे बच नहीं सकता। मनुष्य का शरीर प्रकृति का एक अङ्ग है। प्रकृति द्वारा वह उपलब्ध हुआ है। अतः वह प्रकृति पराधीन है। प्रकृति विवश व्यक्ति किसी भी क्षण में कर्म से मुक्त नहीं हो सकता—

नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

कर्म की यह बाध्यता व्यक्ति को बहुधा व्याकुल बना देती है। व्यक्ति अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए कर्म करता है। और उन कामनाओं की पूर्ति से वह सुख की आशा रखता है। किन्तु कर्म करते हुए उसे ऐसे अनपेक्षित परिणामों का सामना करना पड़ता है जिनकी कामना वह भूल कर भी नहीं करता है। प्रत्येक सुख के साथ दुःख, संयोग के साथ वियोग, जीवन के साथ मृत्यु का अपरिहार्य चक्र उसे निरन्तर त्रस्त करता रहता है। इससे छूटने का क्या उपाय हो सकता है? इस समस्या का समाधान श्रीकृष्ण निष्काम कर्मयोग के रूप में प्रस्तुत करते हैं। जब तक कर्म के साथ कामना जुड़ी रहेगी व्यक्ति कर्मचक्र से मुक्त नहीं हो सकता। इसलिए गीता में निष्कामता पर अत्यधिक बल दिया गया है। श्रीकृष्ण स्पष्ट शब्दों में अर्जुन को आदेश देते हैं—"तुम्हारा कर्म करने में ही अधिकार है उसके फलों में नहीं। इसलिए तुम कर्मों के फल के हेतु न बनो। और कर्म से अनासक्त रहो।"

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

इस सन्दर्भ में वे फलश्रुति का विधान करनेवाले वेदमंत्रों को दृष्टिगत रखकर वेदवाद रत व्यक्तियों की भी आलोचना करते हैं।

श्रीकृष्ण की दृष्टि में जो भोगों में तन्मय हो रहे हैं, जो कर्मफल के प्रशंसक वेदवाक्यों में ही प्रीति रखते हैं, जिनकी बुद्धि में स्वर्ग ही सर्वोत्कृष्ट प्राप्तव्य वस्तु है, वे अविवेकी जन बाहर से मनोहर प्रतीत होने-वाले वाक्यों से जन्म, कर्मफल, भोग, ऐश्वर्य आदि में आसक्त हो जाते हैं। ऐसे लोगों की बुद्धि उन्हें समाधि में स्थित नहीं होने देती—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

रामचरितमानस में सिद्धान्ततः निष्कामता को वही महत्त्व दिया गया है जो उसे गीता में प्राप्त है। फिर भी सकामता की उग्र आलोचना का वह स्वर जो गीता में है मानस में उसका अभाव है। इस पार्थक्य पर बड़ी गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है। यद्यपि सकामता की निन्दा में प्रयुक्त पंक्ति अपने आप में आसाधारण है। फिर भी कुल मिलाकर मानस का अध्ययन करने पर निष्कामता के प्रति उस अपरिहार्यता का उदय नहीं होता जिसे हम गीता में पग-पग पर पाते हैं। मानस के उत्तर-काण्ड में सकामता की निन्दा इस पंक्ति में की गई है—

बिनु संतोष न काम नसाहीं।
काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं॥

"बिना सन्तोष के कामना नष्ट नहीं होती और कामना के रहते हुए व्यक्ति स्वप्न में भी सुखी नहीं हो सकता।"

"कामना रहते व्यक्ति स्वप्न में भी सुखी नहीं हो सकता"—निष्कामता की प्रशंसा के लिए इससे अधिक उत्कृष्ट वाक्य क्या हो सकता है? पर यह पंक्ति ऐसे सन्दर्भ में प्रयुक्त है कि व्यक्ति का अधिक ध्यान अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकती। गीता में कर्म की मीमांसा करते हुए निष्कामता की सराहना की गई है। उस पर ध्यान देना ही होगा। किन्तु मानस की यह पंक्तियाँ सिद्धान्त वाक्यों की भीड़-भाड़ में उतना अपेक्षित प्रभाव नहीं डालतीं। भक्ति योग के प्रसङ्ग में इस पंक्ति का प्रयोग परम भक्त भुशुण्डि के द्वारा किया गया है। इसलिए निष्कामता की महिमा के प्रतिपादन के

तत्काल बाद दूसरी पंक्ति में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि इस निष्कामता का उदय "राम भजन" से हो सकता है। अन्य किसी भी उपाय से यह सम्भव नहीं है जैसे पृथ्वी के अभाव में वृक्ष का होना असंभव है—

राम भजन बिनु मिटहिं कि कामा।
थल बिहीन तरु कबहुँ कि जामा।।

गीता में निष्कामता को इस तरह भक्ति के एक अंग के रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया है। गीता की दृष्टि में निष्कामता भक्त के जीवन में तो सम्भव है ही पर वह स्वतन्त्र रूप से भी कर्मयोगी के जीवन में आ सकती है। भुशुण्डि जी ने भक्ति की महिमा के प्रसंग में समस्त जीवन सिद्धान्तों की जो शब्द सुमनमाला निर्मित की है उसमें एक पुष्प के रूप में निष्कामता की महिमा को भी गूँथ दिया गया है। पूरी पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

निज अनुभव अब कहउँ खगेसा।
बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा।।
राम कृपा बिनु सुनु खगराई।
जानि न जाइ राम प्रभुताई।।
जाने बिनु न होइ परतीती।
बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।।
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई।
जिमि खगपति जल कै चिकनाई।।

बिनु गुरु होइ कि ग्यान, ग्यान कि होइ बिराग बिनु।
गावहिं बेद पुरान सुख कि लहिअ हरि भगति बिनु।।
कोउ बिश्राम कि पाव, तात सहज संतोष बिनु।
चलै कि जल बिनु नाव कोटि जतन पच पच मरिअ।।

बिनु संतोष न काम नसाहीं।
काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं।।
राम भजन बिनु मिटहिं कि कामा।
थल बिहीन तरु कबहुँ कि जामा।।
बिनु बिग्यान कि समता आवइ।
कोउ अवकास कि नभ बिनु पावइ।।
श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई।
बिनु महि गंध कि पावइ कोई।।

बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा।
जल बिनु रस कि होइ संसारा ॥
सील कि मिल बिनु बुध सेवकाई।
जिमि बिनु तेज न रूप गोसाँई ॥
निज सुख बिनु मन होइ कि थीरा।
परस कि होइ बिहीन समीरा ॥
कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा।
बिनु हरि भजन न भव भय नासा ॥

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्रामु ॥
अस बिचारि मतिधीर· तजि कुतर्क संसय सकल।
भजहु राम रघुबीर करुनाकर सुंदर सुखद ॥

प्रारम्भ में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि जहाँ गीता में भक्तियोग कर्मनिष्ठा में अनुस्यूत है वहाँ मानस का कर्मयोग भक्तियोग का एक भाग है। ऐसी स्थिति में निष्कामता के प्रति दोनों की दृष्टियों में अन्तर स्वाभाविक है। कर्म और कामना का सम्बन्ध व्यक्ति के जीवन में इतना सुदृढ़ आधार पा चुका है कि फल की आशा रहित कर्म का सिद्धान्त प्रथम दृष्टि में असम्भव सा प्रतीत होता है। व्यक्ति की कर्म में प्रवृत्ति ही फल के प्रलोभन से प्रेरित होती है। एक नन्हें बालक के समक्ष जब उसकी माँ मिठाई का सम्बन्ध पढ़ने से जोड़ती है तब वह सम्बन्ध यथार्थ न होते हुए भी बालक के जीवन में प्रेरक का कार्य करता है। क्योंकि उस समय तक बालक के जीवन में ज्ञान के स्वाद और भूख का जागरण भले ही न हुआ हो किन्तु जिह्वा के स्वाद और भूख का ज्ञान तो होता ही है। इसीलिए एक व्यवहारकुशल माँ बालक से कहती है "पढ़ने से मिठाई प्राप्त होगी।" वेदों में भी फलश्रुति का उद्देश्य यही प्रतीत होता है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने भी यद्यपि फलात्मक वाक्यों के लिए वेद और वेदवादियों की आलोचना की है पर स्वयं प्रारम्भ में उन्होंने भी अर्जुन को उपदेश देते हुए इसी शैली का आश्रय लिया है। जब वे अर्जुन से यह कहते हैं कि युद्ध में विजय प्राप्त करने पर पृथ्वी का उपभोग करोगे और मरने पर स्वर्ग की प्राप्ति होगी। तब वे भी फल प्रलोभन की शैली का प्रयोग करते हैं।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥

यह बात बड़ी अद्भुत सी प्रतीत होती है कि स्वयं प्रारम्भ में फलात्मक वाक्यों का उपदेश करनेवाले श्रीकृष्ण बाद में वेदवादियों की फलात्मकता के लिए आलोचना करें। पर अधिक गहराई से विचार करने पर भगवान् श्रीकृष्ण की शैली युक्तिसंगत प्रतीत होती है। एक माता के द्वारा जब बालक को पढ़ने के लिए मिठाई का प्रलोभन दिया जाता है तब उसके पीछे माँ की यह धारणा होती है कि बालक को धीरे-धीरे स्वतः शिक्षा में रस आने लगेगा और तब उसे मिष्ठान्न का प्रलोभन देने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाएगी। पर यदि बालक के मन में मिष्ठान्न का प्रलोभन पुस्तक की विस्मृति करा दे तब तो साधन ने साध्य को ही समाप्त कर दिया। वेद की फलमूलक ऋचाएँ इतनी आकर्षक हैं कि उसमें ईश्वर की उपलब्धि का चरम-लक्ष्य विस्मृत हो जाने की ही अधिक सम्भावना है। इसी तथ्य को दृष्टिगत रखकर श्रीकृष्ण ने वेदों और वेदवादियों की आलोचना की है। क्योंकि कुछ वेदवादी व्याख्याताओं की दृष्टि में स्वर्ग ही सर्वोत्कृष्ट प्राप्तव्य है। गीता में सकामता का प्रतिपादन अत्यन्त संक्षेप में किया गया है। आगे चलकर सकामता का खण्डन इतना तीव्र है कि उसके समक्ष सकामता का अंश सर्वथा नगण्य होकर रह जाता है।

रामचरितमानस को इस विषय में मध्यमार्गी के रूप में देखा जा सकता है। न तो वहाँ वेदों के समान सकामता का व्यापक आकर्षण प्रस्तुत किया गया है और न तो गीता के समान उसमें निष्कामता का ही चरम समर्थन प्राप्त होता है। इस विषय में मानस की पंक्तियों के कुछ उद्धरण प्रस्तुत किए जाते हैं।

निष्कामता के पक्ष में कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

हृदयँ न कछु फल अनुसंधाना।
भूप बिबेकी परम सुजाना॥
करइ जे धरम करम मन बानी।
बासुदेव अर्पित नृप ग्यानी॥

× × ×

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निर्बान।
जनम जनम रति राम पद यहु बरदानि न आन॥

× × ×

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम सन सहज सनेह।
बसहु निरन्तर तासु मन सो राउर निज गेह॥
× × ×

षट बिकार जित अनघ अकामा।
अचल अकिंचन सुचि सुख धामा॥
× × ×

होइ अकाम जो छल तजि सेइहि।
भगति मोरि तेहि संकर देइहि॥
× × ×

बिनु संतोष न काम नसाहीं।
काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं॥

कामना पूर्ति का आश्वासन भी अनेक पंक्तियों से प्राप्त होता है—

सिय रघुबीर बिबाहु जे सप्रेम गावहिं सुनहिं।
तिन्ह कहुँ सदा उछाहु मंगलायतन राम जसु॥
× × ×

भव भेषज रघुनाथ जसु सुनहिं जे नर अरु नारि।
तिन्ह कर सकल मनोरथ सिद्धि करहिं त्रिपुरारि॥
× × ×

मन कामना सिद्धि नर पावा।
जो यह कथा कपट तजि गावा॥
× × ×

जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं।
सुख संपति नाना बिधि पावहिं॥
× × ×

सुर दुर्लभ सुख करि जग माहीं।
अन्तकाल रघुबर पुर जाहीं॥

इस विषय में मानस के दृष्टिकोण को इस रूप में रखा जा सकता है। निष्काम कर्मयोग उस महाविद्यालय की भाँति है, जहाँ स्नातकोत्तर शिक्षा ही प्रदान की जाती है। भक्तियोग की तुलना उस महाविद्यालय से की जा सकती है जिसमें प्रथम कक्षा से लेकर स्नातकोत्तर कक्षा तक के विद्यार्थी विद्यमान हैं। निष्काम कर्म व्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति के

विरुद्ध है। इस सहज प्रवृत्ति में परिवर्तन सरल नहीं है। फलाकांक्षा रहित कर्म की दिशा में प्रेरित करने के लिए व्यक्ति को संस्कारों से ऊपर उठना होगा। व्यक्ति के संस्कार में यह धारणा घनीभूत हो गई है कि आकांक्षा की पूर्ति ही सुख का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। इन संस्कारों पर प्रहार करने के लिए व्यक्ति को अपने समक्ष यह दृष्टान्त रखना होगा कि कितने ही लोगों की कामना की पूर्ति हो जाने पर भी उनके जीवन में सुख का अभाव दिखाई देता है। फल की आकांक्षा दुःख का कारण है यह धारणा जब उतनी ही दृढ़ हो जाय जितनी पहली धारणा थी, तभी व्यक्ति से यह आशा की जा सकती है कि वह फलाकांक्षा का परित्याग कर दे। एक रोगी को कोई वस्तु इतनी प्रिय लगती है कि वह समझता है कि इसके बिना भोजन ही नहीं किया जा सकता। किसी चिकित्सक ने बता दिया कि इस वस्तु के सेवन से मृत्यु अवश्यम्भावी है। मृत्यु के भय से उसने तत्काल उस प्रिय वस्तु का त्याग कर दिया। फलाकांक्षा में भी ऐसी ही प्रतीति होने पर व्यक्ति उससे मुक्त होने का प्रयास कर सकता है। फिर भी यह आवश्यक नहीं है कि सभी लोग ऐसा करने में समर्थ हो जायें। ऐसे भी रोगी बड़ी संख्या में देखे जाते हैं जो मृत्युभय होने पर भी कुपथ्य का त्याग नहीं कर पाते।

भक्तियोग में सकामता से निष्कामता का विकास क्रमशः मनोवैज्ञानिक रीति से सम्पन्न होता है। निष्काम कर्मयोगी की साधना का आधार उसका विवेक और अभ्यास है। भक्तियोग की सकामता और निष्कामता का सम्बन्ध ईश्वर से है। प्रत्येक माता-पिता की यह चाह होती है कि लोग उसके पुत्र को पेटू या लालची न समझें। किन्तु बालक के जीवन में स्वाद और भूख की माँग विद्यमान है। उसे भाषण से नहीं रोका जा सकता। बुद्धिमती माँ अपने पुत्र से कह देती है तुम्हें जो कुछ भी चाहिये मुझसे माँगो या कहो पर दूसरे के घर जाकर वहाँ कुछ नहीं माँगना। देने पर भी यथासाध्य अस्वीकार कर देना। परिणाम स्वरूप बालक माँ के समक्ष सकाम है और अन्य लोगों के घर में पूरी तरह निष्काम है। उसकी सकामता का केन्द्र उसकी वात्सल्यमयी माँ है। ठीक यही स्थिति भक्तियोग में विद्यमान है। भक्त अनन्त वात्सल्य मय प्रभु के समक्ष ही अपनी कामनाओं को व्यक्त करता है। सांसारिक व्यक्ति में सहस्रों कामनायें हैं और उन्हें पूर्ण करने के लिये वह अनगिनत व्यक्तियों का आश्रय लेता हैं। क्योंकि उसे ज्ञात है कि वह अपनी कामना की पूर्ति

एक स्थान पर नहीं कर सकता। पर इन अनगिनत व्यक्तियों का आश्रय लेकर भी वह तृप्त नहीं हो पाता। क्योंकि जिससे तृप्ति की आशा की जाती है वह स्वयं भी अतृप्त है। ऐसी स्थिति में प्रारम्भ में तृप्ति को लेकर समझौता होता है और दोनों एक दूसरे को तृप्त करने का अभिनय करते हैं। पर अन्तर्मन में कम देकर अधिक पाने की आकांक्षा का स्वाभाविक परिणाम होता है परस्पर छीना झपटी और संघर्ष। दूसरी ओर प्रभु पूर्णकाम हैं। अतः उन्हें जीव से कुछ नहीं पाना है, वहाँ तो देना ही देना है। जिन्हें ईश्वर से सम्बन्ध की अनुभूति हो रही है, प्रभु से अपनी कामनाओं को प्रगट करने में कोई संकोच नहीं करते। अब यह प्रभु पर निर्भर है कि वह भक्त की किन कामनाओं को पूर्ण करना उचित मानते हैं। देवर्षि नारद की माँग को सुनकर प्रभु उनसे स्पष्ट शब्दों में कह देते हैं—

कुपथ मांग रुज ब्याकुल रोगी।
बैद न देइ सुनहु मुनि जोगी॥
एहि बिधि हित तुम्हार मैं ठयऊ।
कहि अस अंतरहित प्रभु भयऊ॥

गीता में भी जहाँ तक भक्ति की व्याख्या का सम्बन्ध है भगवान श्रीकृष्ण भी इसी मत का प्रतिपादन करते हैं। भक्तों के चार भेद बताकर आर्त और अर्थार्थी को भी भक्त के रूप में स्वीकार करना इसी तथ्य को प्रगट करता है क्योंकि संकट से मुक्त होने की आकांक्षा वाला आर्त और धन की अभिलाषा वाला अर्थार्थी पूरी तरह सकाम है। इतना ही नहीं ज्ञानी के साथ श्रीकृष्ण आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी को भी 'उदार' की उपाधि प्रदान करते हैं।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

इस विषय में गीता और रामचरितमानस का अभिमत सर्वथा एक है। मानस में गीता के इस मत को अक्षरशः स्वीकार कर लिया गया। यह निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट है—

राम भगत जग चारि प्रकारा।
सुकृती चारिउ अनघ उदारा॥
चहुँ चतुरन कहुँ नाम अधारा।
ग्यानी प्रभुहिं विशेष पिआरा॥

अतः यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि श्रीकृष्ण विशेष रूप से उस कामना की निन्दा करते हैं जो स्वर्गपरक और भौतिकभोग की भावना को ही जीवन का मुख्य लक्ष्य मानती है। रामचरितमानस में भी विषय भोग और स्वर्ग को परम प्राप्तव्य मानने की आलोचना की गई है। भगवान राम ने पुरवासियों को उपदेश देते हुए उन्हें यही बताया 'भाइयों इस जीवन का फल विषय भोग नहीं है। स्वर्ग भी अल्प सुख देनेवाला और अन्त में दुखद है।"

एहि तन कर फल बिषय न भाई।
स्वर्गउ स्वल्प अन्त दुखदाई॥

फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि सकामता के प्रति मानस का दृष्टिकोण अधिक सहिष्णु है। इसके अन्य दो कारण भी हो सकते हैं। सकामता की निन्दा और निष्कामता की प्रशंसा का सैद्धान्तिक पक्ष उपयुक्त होते हुये भी इससे समाज में मिथ्याचार और दम्भ को प्रोत्साहन मिलने का भय है। व्यक्ति की अनेक कामनाओं में एक विशेष आकांक्षा सम्मान और यश की होती है। जिन कारणों को लेकर व्यक्ति को सम्मान प्राप्त होता है वह या तो उन्हें जीवन में पाने का प्रयास करता है या कम से कम वैसा दिखाने का अभिनय करता है। निष्कामता की सराहना का परिणाम यही होता है कि व्यक्ति निष्काम तो बन नहीं पाता पर वह निष्कामता का प्रदर्शन अवश्य करने लग जाता है। विशेष रूप से जब सकामता को अत्यन्त हेय दृष्टि से देखा जाय तब व्यक्ति स्वयं को सकाम बताकर लोगों की दृष्टि में क्यों गिरना चाहेगा ?

मानस में निष्कामता के दंभ का सर्वश्रेष्ठ दृष्टान्त प्रतापभानु के चरित्र में प्राप्त होता है। अपने पौरुष और धैर्य से वह विश्व पर विजय प्राप्त कर लेता है। धर्मपूर्वक प्रजा का शासन करता है। चारों ओर उसकी कीर्ति फैल जाती है। वह विधिपूर्वक अनेक यज्ञ सम्पन्न करता है। पर उसके यज्ञों का उद्देश्य क्या है ?

जहँ लगि कहे पुरान श्रुति एक एक सब जाग।
बार सहस्र सहस्र नृप किए सहित अनुराग॥

हृदयँ न कछु फल अनुसंधाना।
भूप बिबेकी परम सुजाना॥

'वेद और पुराणों में जिन यज्ञों का विधान बताया गया है, राजा ने उन यज्ञों को प्रेम सहित हजारों बार सम्पन्न किया। विवेकी सुजान प्रतापभानु के हृदय में फल की कोई कामना नहीं थी। ज्ञानी राजा मन, वचन, कर्म से सम्पन्न होनेवाली प्रत्येक क्रिया को वासुदेव को समर्पित कर देता था।'

उपरोक्त पंक्तियों को पढ़कर अनायास ही गीता के दो श्लोकों का स्मरण आ जाता है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

× × ×

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोऽषि ददासियत्।
यत् तपस्यासि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

ऐसा लगता है जैसे प्रतापभानु का जीवन कर्मयोग और भक्तियोग की गीतोक्त प्रणाली के अनुकूल ही सञ्चालित है। किन्तु उस समय उसकी मनोभूमि पर सन्देह होता है, जब वह मृगया खेलते हुये एक वाराह पर अपने बाण के व्यर्थ होते ही सन्तुलन खो बैठता है। इसी यात्रा में उसकी भेंट कपट मुनि से होती है और उसके द्वारा यह पूछे जाने पर कि क्या आप कोई कामना मुझसे पूर्ण कराना चाहते हैं, निष्काम राजा जब अपनी कामनाओं की गठरी खोलता है तब विश्वास करना कठिन हो जाता है कि क्या वही यह व्यक्ति है जो ज्ञान, भक्ति और कर्म को जीवन में उतार चुका था। उसकी कामना तो असीम है—

जरा मरन दुख रहित तनु समर जितै जनि कोउ।
एक छत्र रिपुहीन महि राज कलप सत होउ॥

दोनों में प्रतापभानु का वास्तविक चित्र कौन सा है ? यह कहना संभवतः अधिक कठोर होगा कि प्रतापभानु निष्कामता का केवल स्वांग कर रहा था। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्थिति बड़ी स्पष्ट है। इसे प्रतापभानु ही नहीं उन सभी लोगों के जीवन में देखा जा सकता है जो सन्तों या महापुरुषों के मुख से बहुधा उच्चकोटि के सिद्धान्तों का श्रवण करते रहते हैं। संभवतः बुद्धि और बहिरंग मन पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ता

है और व्यक्ति अनजाने में ही स्वयं को उस रूप में देखने लग जाता है। बहिरंग आवरण में उसके अन्तर्मन का वास्तविक रूप ढँक जाता है। स्वयं को इस रूप में प्रदर्शित करने पर उसे साधक या सिद्धि के रूप में जो सम्मान प्राप्त होता है उससे उस व्यक्ति की भ्रान्तियाँ और बढ़ जाती हैं। प्रतापभानु भी इसी भ्रान्ति का आखेट बन गया। ऋषियों, मुनियों से वह शास्त्र पुराण का श्रवण करता है। 'सुनइ सास्त्र बर बेद पुराना'। उसमें निष्कामता की महिमा और निष्काम महापुरुषों की उज्ज्वल गाथाओं का उस पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। फिर भौतिक दृष्टि से उसे सभी कुछ प्राप्त था। वह सारी वसुन्धरा का एकक्षत्र सम्राट था। सत्ता, वैभव, पत्नी, परिवार, सौन्दर्य सभी उपलब्ध थे। ऐसी स्थिति में ऐसी कोई भी वस्तु उसके समक्ष न थी जिसें वह प्राप्तव्य मानता। अतः वह स्वयं को निष्काम और समर्पणकर्ता के रूप में प्रस्तुत करता हुआ आनन्द का अनुभव क्यों न करता ?

कपट मुनि के समक्ष पहुँच कर पहली बार वह स्वयं में हीनता का अनुभव करता है। क्योंकि कपट मुनि ने यह बताया कि जब से सृष्टि उत्पन्न हुई उसका शरीर यथापूर्व है और इसलिए उसका नाम 'एक तनु' है—

आदि सृष्टि उपजी जबहिं तब उतपति भै मोरि।
नाम एक तनु हेतु तेहि देह न धरी बहोरि॥

अब तक प्रतापभानु जन्म और मरण के चक्र को अपरिहार्य मानता आ रहा था। अतः इस विषय को वह असंभव समझ कर अन्य विषयों में निष्काम बना फिर रहा था। पर ज्यों ही उसे लगा कि मृत्यु चक्र पर विजय सम्भव है उसकी कामनाओं का पोथा खुल गया।

जरा मरन दुख रहित तनु समर जितै जनि कोउ।
एक छत्र रिपुहीन महि राज कलप सत होउ॥

'मेरा शरीर वृद्धावस्था और मृत्यु के भय से मुक्त हो जाय। मुझे कोई शत्रु न जीत सके। शत्रुहीन होकर मैं सौ कल्पों तक राज्य करता रहूँ।'

निष्कामता की झूठी ख्याति उसे बाध्य करती है कि वह कपट मुनि के पास से लौट कर किसी के समक्ष यह रहस्य न प्रगट होने दे। वह ब्राह्मणों को निमन्त्रित करते समय उन्हें कैसे सूचित करता कि वह किसी कामना की पूर्ति के लिए भोज का आयोजन कर रहा है। यही कपट

और दम्भ उसके लिए घातक बनकर सर्वनाश और निशाचरत्व का हेतु बन जाता है।

इससे यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि उच्चकोटि के सिद्धान्तों का प्रतिपादन कभी-कभी व्यक्ति और समाज को ऐसी दिशा में ले जाता है जब वह अपनी यथार्थ भूमिका भूल कर आदर्श की उड़ान के चक्कर में विनष्ट हो जाता है। अतः वैमानिक यात्रा के साथ-साथ व्यक्ति के सामने वह पक्ष भी रखा जाना चाहिये कि उसे लगे कि पैदल चलकर भी वह लक्ष्य तक पहुँच सकता है। पैदल यात्रा के भी अपने गुण और लाभ हैं। तभी अपनी योग्यता के अनुरूप साधन चुनकर व्यक्ति निस्संकोच भाव से लक्ष्य तक पहुँच सकता है।

तुलसीदास अपने युग की मनोभूमि को भली भाँति पहचानते थे। वेदान्त, भक्ति और कर्म के उच्च सिद्धान्तों के नाम पर जो पाखण्ड व्याप्त हो रहा था, उससे प्रेरित होकर उन्होंने यह आवश्यक समझा कि लोगों की व्यवहारिक कठिनाई को सामने रख कर ही साधना की पद्धति का रामचरितमानस में निर्देश दिया जाय, जिससे वह विशिष्ट जनों के साथ-साथ साधारण से साधारण व्यक्ति के लिये भी उपयोगी बन सके। अपने इस प्रयास में वे पूरी तरह सफल हुये। वस्तुतः निष्काम कर्मयोग की आवश्यकता किन लोगों को है ? यों तो यह कहा जा सकता है कि सभी लोगों के लिये यह कल्याणकारी है। पर व्यवहारिक यथार्थ इससे भिन्न है।

कामना को लेकर हम समाज को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। एक वह वर्ग है जो कामना पूर्ति के अभाव में दुःखी है। दूसरा वह है जो साधारणतया कामनाओं की पूर्ति में समर्थ होते हुये भी दुःखी है। निष्काम कर्मयोग की वास्तविक आवश्यकता इसी दूसरे वर्ग के लिये है। उपवास लाभदायक है पर किनके लिये ? अभाव के कारण जिन बेचारों को नित्य उपवास करना पड़ रहा है उनके समक्ष उपवास की महिमा का वर्णन करना क्रूरता की पराकाष्ठा है। उनके लिये भोजन आवश्यक है, वह उपवास नहीं रोटी की महिमा का अधिकारी है। उपवास उनके लिये परमावश्यक है जिन्हें भोजन की अधिकता से अजीर्ण हो रहा है। इसी तरह जिन व्यक्तियों के जीवन में साधारण भोजन, वस्त्र की आवश्यकता की भी पूर्ति नहीं हो रही है उन्हें निष्काम बनाने का प्रयास स्वार्थ और क्रूरता की वृत्ति से ही प्रेरित मानना होगा। इसलिये गोस्वामी जी जब

समाज की दरिद्रता देखते हैं तब उन्हें निष्काम कर्मयोग या ज्ञान वैराग्य की घूँटी नहीं पिलाते। उनकी वास्तविक पीड़ा को वे समझते हैं, वे स्वीकार करते हैं कि भूख सबसे बड़ा कष्ट है और उसका निवारण होना चाहिये—

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी।
जीविका बिहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहैं एक एकन सों 'कहाँ जाई, का करी ?'
बेदहूँ पुरान कही, लोकहूँ बिलोकिअत,
साँकरे सबै पै, राम! रावरें कृपा करी।
दारिद-दसानन दबाई दुनीं, दीनबंधु!
दुरित-दहन देखि तुलसी हहा करी॥

समग्र रामचरितमानस में भगवान राम के द्वारा कहीं भी सकामता की निन्दा का कोई प्रसंग नहीं आता। भगवान राम के शील का जो स्वरूप मानस में प्रस्तुत किया गया है, उसको दृष्टिगत रखकर विचार करने पर यह सर्वथा उचित ही जान पड़ता है। महाभारत में श्रीकृष्ण का स्वरूप इससे भिन्न है। उनके चरित्र में शौर्य और ओज का प्राधान्य है। उन्हें जो कुछ कहना होता है उसे स्पष्ट करने में वह संकोच नहीं करते। एक ही परिस्थिति में दोनों की भाषा सर्वथा भिन्न होती है। गीता के प्रारम्भ में अर्जुन की बातें सुनकर वे हँस तो पड़ते हैं, पर साथ-साथ अर्जुन को अविवेकी और कायर कहने में भी उन्हें संकोच नहीं होता है—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥

इन्हीं परिस्थितियों में भगवान राम सुग्रीव की बात सुनकर हँसते तो अवश्य हैं। पर इसके बाद वे केवल यह कहकर रुक जाते हैं कि 'मित्र तुमने जो कहा वह सत्य है पर मेरे वाक्य भी असत्य नहीं होते।'

सुनि बिराग संजुत कपि बानी।
बोले बिहँसि राम धनुपानी॥
जो कछु कहेहु सत्य सब सोई।
सखा बचन मम मृषा न होई॥

सुग्रीव के अन्तःकरण में अपनी सकामता के कारण हीन भावना का उदय न हो इसके लिये वे निरन्तर सजग रहते हैं और स्वयं को भी उनके समक्ष एक सकाम व्यक्ति के रूप में ही प्रस्तुत करते हैं। इसलिए उन्होंने प्रारम्भ में सुग्रीव से मैत्री धर्म की व्याख्या करते हुये इन वाक्यों का प्रयोग किया 'मित्र से मित्र को न तो लेने में ही संकोच करना चाहिये और न तो देने में ही'—

देत लेत मन संक न धरई।
बल अनुमान सदा हित करई॥

इतना ही नहीं सुग्रीव को राज्याभिषेक के पश्चात् उन्हें यह स्मरण दिलाना नहीं भूलते कि 'आप अंगद के सहित राज्य कीजिये किन्तु मेरे कार्य को भी सदा स्मरण रखिएगा'—

अंगद सहित करहु तुम्ह राजू।
संतत हृदय धरेहु मम काजू॥

वस्तुतः श्री राघवेन्द्र को अपने कार्य के लिए सुग्रीव के साहाय्य की कोई आवश्यकता नहीं थी। यह वाक्य तो सुग्रीव की सकामताजन्य हीन भावना को दूर करने के लिए कहा गया था। यह श्री राघवेन्द्र के सौजन्य और शील के अनुरूप है।

किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि मानस में सकामता के दोषों का दिग्दर्शन नहीं कराया गया है। मनुष्य और देवताओं की बात ही क्या है। ईश्वर के समक्ष कामना लेकर जानेवाला व्यक्ति कभी न कभी ईश्वर से असन्तुष्ट होता ही है। ईश्वर भी भक्त की उन्हीं कामनाओं को पूर्ण करता है जो सकाम व्यक्ति के हित के विरुद्ध न हों। कामना पूर्ति में बाधा पड़ते ही व्यक्ति को ईश्वर में दोष दिखाई देने लगता है। देवर्षि नारद ने विश्व-मोहिनी से विवाह करने के लिए भगवान से अपना सौन्दर्य देने की प्रार्थना की। किन्तु देवर्षि की इस प्रार्थना को स्वीकार करने के स्थान पर प्रभु ने उन्हें बन्दर की आकृति प्रदान कर दी। विश्वमोहिनी से वञ्चित होते ही देवर्षि क्रोध में अपना सारा सन्तुलन खो बैठते हैं। उन्हें भगवान नारायण में दोष ही दोष दिखाई देने लगते हैं। और उनका रोष इन शब्दों में फूट पड़ता है—

पर संपदा सकहु नहिं देखी।
तुम्हरे इरषा कपट बिसेषी॥

मथत सिंधु रुद्रहि बौरायहु।
सुरन्ह प्रेरि विष पान करायहु॥

असुर सुरा, बिष संकरहि आपु रमा मनि चारु।
स्वारथ साधक कुटिल तुम्ह सदा कपट व्यवहारु॥

परम स्वतंत्र न सिर पर कोई।
भावइ मनहि करहु तुम्ह सोई॥
भलेहि मंद मंदेहि भल करहू।
बिसमय हरष न हियँ कछु धरहू॥
डहकि डहकि परिचेहु सब काहू।
अति असंक मन सदा उछाहू॥
करम सुभासुभ तुम्हहि न बाधा।
अब लगि तुम्हहिं न काहूँ साधा॥
भले भवन अब बायन दीन्हा।
पावहुगे फल आपन कीन्हा॥

इसी आवेश में वे क्रुद्ध होकर प्रभु को श्राप भी दे देते हैं। अतः ईश्वर भले ही सकामता का तिरस्कार न करता हो किन्तु सकामता ईश्वर में दोष बुद्धि और विस्मृत का हेतु बन सकती है। यह असंदिग्ध शब्दों में कहा जा सकता है।

श्रीकृष्ण निष्कामता का दर्शन देते हैं तो श्री राम सकामता की स्वीकृति के साथ निष्कामता के दर्शन का प्रतिपादन करते हैं।

युद्ध-अयुद्ध

महाभारत के रणांगण में अर्जुन जिस अन्तर्द्वन्द्व से संत्रस्त हो उठता है, उससे मुक्त करने के लिए भगवान कृष्ण ने भले ही उसके लिए "क्लैव्यं मास्म गमः" शब्द का प्रयोग किया हो। पर इसके पीछे भी अर्जुन की सहृदयता ही कार्य कर रही थी। युद्ध के लिए एकत्र सारी सेना को देखते ही उसका हृदय ग्लानि से भर उठता है। उसका यह प्रश्न अस्वाभाविक तो नहीं था कि राज्य जैसे अस्थिर पदार्थ के लिए क्या गुरुजनों और सम्बन्धियों का बध किया जाना उपयुक्त हो सकता है? युद्ध के पश्चात् भविष्य की जो कल्पना उसके अन्तर्मन में आती है क्या वह यथार्थ नहीं थी? महाविनाश को छोड़कर महाभारत के युद्ध की क्या उपलब्धि

थी ? ऐसी स्थिति में यदि अर्जुन युद्ध से विरत होना चाहता था तब क्या श्रीकृष्ण के लिए यह उपयुक्त था कि वे अर्जुन को बलात् युद्ध की दिशा में प्रेरित करते ? क्या अर्जुन को गीता में जो उत्तर दिए गए उनमें अर्जुन की आशंकाओं का कोई वास्तविक समाधान था ? इस प्रकार के कई प्रश्न आज भी महाभारत और गीता के प्रबुद्ध अध्येता के मन में उठते हैं। इस प्रश्न पर अनेक रूपों में विचार किया गया है।

रामचरितमानस में भी एक ऐसा प्रसंग आता है जहाँ भगवान राम के द्वारा भी एक ऐसे व्यक्ति को युद्ध के लिए प्रेरित किया जाता है जो अर्जुन के समान ही युद्ध के लिए अनिच्छुक प्रतीत होता है। यह पात्र है सुग्रीव। अर्जुन के समान वे भी श्रीराम के सखा हैं। अर्जुन को ठीक ऐसे अवसर पर युद्ध से वैराग्य उत्पन्न होता है जहाँ दोनों सेनाएँ पूरी तरह युद्ध के लिए सन्नद्ध थीं। सुग्रीव का वैराग्य भी कुछ मिलती जुलती परिस्थितियों में ही जागृत होता है। सुग्रीव की दुःख भरी गाथा को सुनकर श्री रामभद्र द्रवित होकर बालि बध की प्रतिज्ञा करते हैं। उस समय तक सुग्रीव बालि बध के लिए इतने अधिक उत्सुक थे कि वे यह भी संशय प्रगट करते हैं कि क्या आपके लिए बालि जैसे महाबली का बध कर सकना सम्भव होगा ? प्रभु ने परीक्षा देकर उनके सन्देह का निवारण कर दिया। इसके तत्काल बाद सुग्रीव भिन्न भाषा का प्रयोग करने लग जाते हैं। उनकी वाणी से ज्ञान, वैराग्य और भक्ति के उच्चकोटि के सिद्धान्त फूट पड़ते हैं। यहाँ वे अर्जुन से भी एक पग आगे हैं। अर्जुन धर्म की दुहाई देकर कुल नाश की आशङ्का से युद्ध का परित्याग करना चाहते हैं। वे कहते हैं कि यदि दुर्योधन की बुद्धि लोभ से अभिभूत हो गयी है तो क्या हम लोग भी उस दुर्वृत्ति को स्वीकार कर लें। उन्हें युद्ध का भयावह और दूरगामी परिणाम मनश्चक्षुओं के समक्ष प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। उसको अपने गुरुजनों में, सम्बन्धियों में आसक्ति है, वह उन्हें मार कर राज्य नहीं पाना चाहता। उसे यह युद्ध पाप रूप प्रतीत होता है, और वह गाण्डीव रख देता है—

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोऽपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ।।
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ।।
कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ।।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥
अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥
एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥

किन्तु सुग्रीव तो इतना अदोषदर्शी प्रतीत होता है कि बालि की निन्दा तो दूर उसे परम हितैषी की उपाधि देता है। उसे सारा विश्व मिथ्या प्रतीत होता है। उसमें पूर्ण निष्कामता का उदय हो गया है। उसे सुख, सम्पत्ति, परिवार, बड़प्पन कुछ नहीं चाहिए। बस वह तो सर्वत्याग पूर्वक प्रभु के चरणों की भक्ति ही करना चाहता है—

उपजा ज्ञान बचन तब बोला।
नाथ कृपाँ मन भयउ अलोला॥
सुख संपति परिवार बड़ाई।
सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥
ए सब रामभगति के बाधक।
कहहिं संत तव पद अवराधक॥
सत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं।
माया कृत परमारथ नाहीं॥
बालि परम हित जासु प्रसादा।
मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा॥
सपनें जेहि सन होइ लराई।
जागें समुझत मन सकुचाई॥

अब प्रभु कृपा करहु एहि भांती।
सब तजि भजन करौं दिन राती॥

उपरोक्त पंक्तियों को पढ़ कर प्रतीत होता है जैसे गीता का समग्र तत्व-ज्ञान सुग्रीव में उतर आया है। पर अर्जुन और सुग्रीव के वाक्यों का भगवान के दोनों अवतारों पर समान प्रभाव पड़ा। अर्जुन की बात सुनकर श्रीकृष्ण के होठों पर हंसी आई तो सुग्रीव की वाक्य रचना को सुनकर श्रीरामभद्र खुल कर हँस पड़े—

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥

× × ×

सुनि बिराग संजुत कपि बानी।
बोले बिहँसि राम धनुपानी॥

इस हँसी को देखकर लगता है 'धर्मरक्षा' के लिए अवतरित श्रीकृष्ण अर्जुन के धर्मसंरक्षण की चिन्ता को कोई महत्त्व नहीं देते। ज्ञान वैराग्य के घनीभूत रूप श्रीराम भी तो भक्ति, ज्ञान और वैराग्य की उपेक्षा करते जान पड़ते हैं ? दोनों ही अपने मित्रों को लड़ने की प्रेरणा देते हैं। यदि सुग्रीव अपने बड़े भाई से युद्ध नहीं करना चाहता तो इसमें श्री राम को क्यों आपत्ति होनी चाहिए ? उनके चरित्र में भ्रातृ प्रेम की अजस्र धारा बह रही है। स्वयं अपने भाई से महत् प्रेम करनेवाला दूसरे को अपने भाई से लड़ने के लिए बाध्य करे ! यह कहाँ तक शोभनीय है ?

दोनों प्रसंगों में यथेष्ट साम्य होते हुए भी कुछ महत्त्वपूर्ण पार्थक्य हैं। बालि सुग्रीव के संघर्ष मे कुलनाश या सर्वनाश जैसी कोई समस्या नहीं थी। इस युद्ध में केवल एक की मृत्यु सम्भावित थी। अतः यहाँ भविष्य की कोई भयावह कल्पना करने का भी प्रश्न नहीं था।

तीसरा अन्तर जिसे अधिक महत्वपूर्ण कहा जा सकता है वह है दोनों युद्धों में श्रीरामभद्र और श्रीकृष्ण की भूमिकाओं का पार्थक्य। बालि बध में मुख्य भूमिका भगवान राम की है उन्होंने एक ही बाण में बालि के बध को प्रतिज्ञा की है। सुग्रीव को संघर्ष के प्रारम्भ में चुनौती मात्र देना है। महाभारत के युद्ध में श्रीकृष्ण केवल दर्शक हैं। उन्होंने शस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा की है। यहाँ युद्ध का मुख्य भार सखा अर्जुन पर है। इस तरह दोनों युद्धों में ईश्वर के दो रूपों का दर्शन होता है।

वेदान्त दर्शन की दृष्टि में ब्रह्म द्रष्टामात्र है। वह अकर्ता और अभोक्ता है। महाभारत के श्रीकृष्ण का दर्शन भी इसी रूप में होता है। भक्ति का दर्शन इससे सर्वथा भिन्न है। उसकी दृष्टि में सब कुछ ईश्वर ही करता है। करना और कराना सब उसी के हाथ में है—

करन राम चाहइ सोई होई।
करइ अन्यथा आस न कोई ॥

मानस के श्रीराम को हम इसी रूप में पाते हैं। वे युद्ध के द्रष्टा ही नहीं उसमें पूरी तरह भाग लेते हैं। पर यह भी अधूरी दृष्टि है। इसे भिन्न रूप में भी कह सकते हैं। महाभारत के श्रीकृष्ण अकर्ता प्रतीत होते हुए भी वस्तुत: सब कुछ कर रहे हैं। महाभारत के सारे योद्धाओं का बध वे स्वयं करते हैं। इसी सत्य का साक्षात्कार अर्जुन को विराट रूप के दर्शन में होता है। श्रीकृष्ण इसकी स्पष्ट स्वीकृति भी देते हैं। "मया एते निहिता पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्"—इन सबका बध मैंने पहले ही कर दिया है। तू निमित्त मात्र बन। रामचरितमानस के श्री राघवेन्द्र प्रत्यक्ष रूप से सबका बध करते हुए दिखाई देते हैं। पर स्वदृष्टि से वे अकर्त्ता हैं। इसीलिए जब वे पुष्पक विमान से अयोध्या की ओर लौटते हुए विदेहनन्दिनी को युद्धक्षेत्र के दृश्य दिखाते हैं तब मेघनाद के बध-स्थल की ओर संकेत करते हुए कहते हैं—"लछिमन इहाँ हत्यो इन्द्रजीता" यहाँ लक्ष्मण ने मेघनाद का बध किया। किन्तु रावण और कुम्भकर्ण के मृत्युस्थल की ओर इंगित करते हुए कहते हैं—"रावण और कुम्भकर्ण यहाँ मारे गए"—

कुम्भकरन रावन दोउ भाई।
इहाँ हते सुर मुनि दुख दाई ॥

ऐसा प्रतीत होता है जैसे इन लीलाओं के माध्यम से ईश्वर के कर्त्तृत्व और ब्रह्म के अकर्त्तृत्व की गुत्थी सुलझा दी गई हो। अकर्त्ता और कर्त्ता दोनों वही है। अब यह हमारी भावना पर आधारित है कि हम उसे किस रूप में देखना चाहते हैं।

दोनों ही प्रसंगों में ईश्वर निर्द्वन्द्व है पर सखा जीव दोनों ही लीलाओं में संशयग्रस्त है। बहिरंग दृष्टि से सुग्रीव और अर्जुन दोनों की बातें सैद्धान्तिक और युक्तियुक्त प्रतीत होती हैं। गीता और मानस में दोनों ही प्रभुओं ने यह स्वीकार किया—

"प्रज्ञावादाँश्च भाषसे"
"जो कछु कहेउ सत्य सोई"

किन्तु इस स्वीकृति के पश्चात् भी दोनों अपने मित्रों को युद्ध करने का आदेश देते हैं। श्रीकृष्ण को इसके लिए गीता-ज्ञान का उपदेश देना पड़ा। भगवान राम ने मुस्कराते हुए एक अभिनय के माध्यम से सुग्रीव की भ्रान्ति दूर की।

दोनों प्रसंगों में यह अद्भुत साम्य है कि सुग्रीव और अर्जुन दोनों ही श्रीराम और श्रीकृष्ण को ईश्वर रूप में पहिचान चुके हैं। इतना होते हुए भी अनजाने में दोनों ही ईश्वर की अपेक्षा स्वयं को अधिक विवेकी और सहृदय सिद्ध कर डालते हैं। जब अर्जुन भविष्य का भयानक चित्र प्रस्तुत करने लगा तब सम्भवतः उसे यह विस्मृत हो गया कि वह सर्वज्ञ ईश्वर के समक्ष अपना कल्पित भविष्य दर्शन प्रस्तुत कर रहा है। इसी प्रकार जब सुग्रीव ने सृष्टि के मिथ्यात्त्व और अभेद ज्ञान का वर्णन किया तब उसने अनजाने में ज्ञान घन श्रीराम में भेद बुद्धि की कल्पना कर ली। भगवान राम बालि के बध की प्रतिज्ञा करते हैं। और सुग्रीव बालि को परम हितैषी सिद्ध करके स्वयं को अदोषदर्शी सिद्ध करना चाहता है। इसका तात्पर्य तो यही है कि सुग्रीव ज्ञानी हैं और राम में दोषदर्शन और भेद बुद्धि शेष है। वस्तुतः सुग्रीव और अर्जुन दोनों ही अपने विरोधाभासी अन्तःकरण से संत्रस्त हैं। उनका यह अन्तर्द्वन्द्व अटपटा न होता यदि उन्होंने राम और कृष्ण को मनुष्य रूप में देखा होता। ईश्वरत्त्व की स्वीकृति के साथ उन दोनों की युद्ध से विरति सर्वथा असंगत थी।

दूसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि दोनों के भावोद्गार आवेशजन्य थे उनके पीछे कोई विचार या चिन्तन नहीं था। उन्होंने भावना का एक ऐसा भव्य भवन खड़ा किया जो ऊपर से तो बड़ा आकर्षक प्रतीत होता है। पर जिसकी नींव थी ही नहीं। ऐसे भवन को बने रहने देना ही भयावह है। सुग्रीव और अर्जुन के भावनात्मक उद्गारों की तुलना ऐसे भवन से की जा सकती है, जो निर्माण की शीघ्रता में खोखली नींव पर बना दिया गया हो। और उसके बहिरंग आकर्षण से आकृष्ट होकर गृहपति उसे स्थायी आवास के रूप में परिणत करने को व्यग्र हो उठे। ऐसी स्थिति में वास्तविकता से विज्ञ मित्र का क्या कर्तव्य है? वह जानता है आंधी और वर्षा का एक ही झोंका इस महल को ढहाकर इसमें रहने वालों को विनष्ट कर देगा। सम्भवतः वह अपने मित्र का हाथ पकड़कर उसे बलात् बाहर

खींच लेगा। और कह देगा कि इससे अच्छा तो तुम्हारा पुराना घर है। अवतार द्वय ने अपने मित्रों की रक्षा के लिए इसी कार्य विधि का आश्रय लिया।

सृष्टि रहस्यमयी है उसमें बहुत कुछ ऐसा है जो असंगत, कुरूप और दुःखद प्रतीत होता है। एक महान रचयिता ने जिसने इतने बड़े ब्रह्माण्ड का निर्माण किया संसार में इतना सौन्दर्य और आनन्द का सृजन किया उसे क्या आवश्यकता थी कि इसके साथ उसने दुःख अमंगल और कुरूपता को भी इसके साथ जोड़ दिया। एक द्वन्द्वमयी सृष्टि की क्या आवश्यकता थी ? यह प्रश्न बार-बार मानव मस्तिष्क को उद्वेलित करता रहा है। अनेक रूपों में इसका समाधान प्रस्तुत किया जाता रहा है। प्रत्येक समाधान कुछ न कुछ लोगों को सन्तोष प्रदान करने में समर्थ हो जाता है पर फिर भी अनेक लोगों को इससे सन्तुष्टि नहीं होती। प्रत्येक दर्शन आचार्य सृष्टि तत्त्व की कोई न कोई मीमांसा प्रस्तुत करता ही है। कुछ की दृष्टि में इसका रचयिता कोई ईश्वर नहीं है यह तो परमाणुओं का परस्पर मिलना है अतः इसकी कुरूपता के लिए किसी को दोष देना व्यर्थ है। किन्हीं की दृष्टि में सृष्टि के पीछे कर्म है अतः रचयिता भी कर्मानुकूल ही दुःख, सुख, सौन्दर्य और कुरूपता के निर्माण के लिए बाध्य है। तो अन्य आचार्य इसे माया मात्र स्वीकार करते हैं। सृष्टि एक स्वप्न है और स्वप्न में जो कुछ अच्छा बुरा प्रतीत होता है उसका कोई अर्थ नहीं है। मिथ्यात्त्व के ज्ञान मात्र से इन समस्याओं का समाधान हो सकता है। तो इन सब झमेलों से ऊबकर कई लोग कहते हैं कारण की खोज व्यर्थ है। जो दुःख सामने है उसकी निवृत्ति का प्रयास किया जाना चाहिए। घूम फिर कर बात व्यक्ति के आत्म सन्तोष पर आकर रुक जाती है। आत्म सन्तोष शब्द अच्छा नहीं लगता तो व्यक्ति उसे सत्य का नाम दे देता है। अनेक लोगों को यही मानकर सन्तोष होता है कि उन्होंने सत्य को समझ लिया है।

सृष्टि है और उत्पत्ति स्थिति, विनाश उसका क्रम है। व्यक्ति उत्पत्ति और स्थिति का आग्रही है। विनाश से वह भयभीत है। यद्यपि विनाश वस्तुतः नहीं है, केवल वस्तु और आकृति का परिवर्तन मात्र होता है। पर मनुष्य उससे भी घबराता है। ईश्वर के लिए इन तीनों में कोई अन्तर नहीं है वह एक ऐसा कलाकार है जो नित्यनूतन की सृष्टि करता है उसे पुरातन से कोई राग नहीं है। इसलिए वह पुरातन को तोड़कर नवीन का

सृजन करने में समान आनन्द का अनुभव करता है। जिनका व्यक्ति और वस्तु में राग है उन्हें इसमें रचयिता का बचपना दिखाई देता है। बच्चे मिट्टी का घरौंदा नित्य बनाते और बिगाड़ते हैं ईश्वर भी यही करता प्रतीत होता है—

जो सृजि पालइ हरइ बहोरी।
बाल केलि सम बिधि मति मोरी॥

कुरुक्षेत्र के रणांगण में भी ईश्वर और जीव की दृष्टि का यह अन्तर स्पष्ट है। विनाश का वह भयावह चित्र जो अर्जुन को संत्रस्त कर देता है, ईश्वर के लिए हँसी का विषय है। अर्जुन अपनी दृष्टि ईश्वर को देना चाहता है। जैसे वह कह रहा हो "मेरी दृष्टि से देखिए।" क्या अनर्थ होने वाला है। वह रुआँसा हो रहा है। काँप रहा है। ईश्वर हँस पड़ता है जैसे कह रहा हो तू मेरी आँख से इस रणक्षेत्र को ही नहीं, सारे ब्रह्माण्ड को देख। फिर तेरा यह कम्प और त्रास सब समाप्त हो जाएगा।

"ददामि दिव्यचक्षुं ते पश्य में योगमैश्वरं।" वह अर्जुन से प्रश्न करता है वह क्या है जो मिट जाएगा ? ये सब मर कर कहाँ चले जाएँगे ? इस जीवन के पहले हम तुम और ये राजा लोग कहाँ थे ?

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥

कुछ ऐसा ही प्रश्न श्रीराम ने तारा से किया था। बालिबध के पश्चात् रुदन करती हुई तारा से प्रभु ने पूँछा—तुम किसके लिए रो रही हो। जीव के लिए या शरीर के लिए। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इन्हीं का संघात यह शरीर है। यह तो सामने विद्यमान है। इनका अभाव कहाँ है। व्यक्ति में सिमटा हुआ पञ्चभूत पुनः फैल गया। इसमें क्या अन्तर पड़ा। दृष्टान्त में यों कह सकते हैं "एक व्यक्ति के पास सौ रु० का नोट था किसी ने आवश्यक होने पर उसे भुना लिया। अब परिवर्तित मुद्रा को देखकर यदि वह पुरानी मुद्रा की याद करके रोवे तो यह पागल पन है।"

छिति जल पावक गगन समीरा।
पंच रचित अति अधम सरीरा॥
प्रगट सो तनु तव आगे सोवा।
जीव नित्य केहि लगि तुम रोवा॥

गीता के प्रारम्भ में अर्जुन की मनोवृत्ति की तुलना हम उस बालक से

कर सकते हैं जिसकी माँग प्रतिक्षण बदलती रहती है। यह वही अर्जुन है जो न जाने कब से युद्ध की योजनाएँ बना रहा था। स्वयं भगवान कृष्ण को युद्ध में सम्मिलित होने का निमन्त्रण देने के लिए भी श्रीकृष्ण के पास यही महोदय पधारे। और जब अभी कुछ क्षण पहले सारी सेना कुरुक्षेत्र में एकत्र हुई तब देवदत्त शङ्ख की ध्वनि के द्वारा उसने शत्रुओं को चुनौती दी थी। और भगवान कृष्ण को आदेश दिया था कि मेरे रथ को दोनों सेनाओं के मध्य में ले चलिए जिससे मैं उन मूढ़ बुद्धि राजाओं को देख सकूँ जो दुर्योधन का साथ देने के लिए यहाँ एकत्र हुए हैं।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥
या वेदतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः॥

दोनों सेनाओं के मध्य में खड़े होकर उसने जो कुछ देखा वह कोई अप्रत्याशित दृश्य नहीं था। उसे पहले से हो यह भली प्रकार ज्ञात था कि उसे किन लोगों से युद्ध करना है। ऐसी स्थिति में यह अर्जुन की एक क्षणिक भावुकता थी। जिससे वह युद्ध से विरत होने के लिए प्रस्तुत हो गया। दूरदर्शी कृष्ण यह जानते थे कि यह आवेशजन्य भावुकता टिकाऊ नहीं है। उन्हें यह भी ज्ञात था कि अर्जुन की यह क्षणिक भावुकता उसके लिए और समाज के लिए कितनी घातक सिद्ध होगी। कौरव और उनके साथी अर्जुन की इस कृपा वृत्ति को कायरता के रूप में देखेंगे। अर्जुन की मनःस्थिति इस क्षण भले ही दया से प्रेरित हो किन्तु वह ऐसे समत्त्व में स्थिति नहीं है कि निन्दा और स्तुति को समान भाव से ग्रहण कर सके। परिणाम स्वरूप शत्रुओं की आलोचना सुनकर उसका क्षात्र तेज पुनः उद्दीप्त होगा और तब उसका यह परिवर्तनशील मनोभाव उसे न केवल शत्रुओं की दृष्टि में अपितु मित्रों की दृष्टि में भी गिरा देगा। ऐसे व्यक्ति का साथ देना किसे प्रिय लगेगा। जिसका मस्तिष्क इतना अधिक अस्थिर हो।

अर्जुन ने भविष्य का जो भीषण चित्र प्रस्तुत किया उसका भिन्न विकल्प कैसा होगा। इसकी ओर उसकी दृष्टि नहीं जाती। यदि पाण्डव युद्ध से विरत हो जायँ और दुर्योधन का एक छत्र राज्य स्थापित हो जाय तब जो स्थिति होगी उसकी भीषणता की कल्पना अर्जुन नहीं कर पाता है। दुर्योधन की विजय का अर्थ है अन्याय की विजय। यदि एक बार समाज में यह धारणा दृढ़ हो जाय कि अन्याय और अत्याचार का कोई प्रतिफल प्राप्त नहीं होता और अधर्म ही विजयी होता है, तब यह वृत्ति समाज को सर्वदा के लिए अन्याय और अधर्म की दिशा में प्रेरित कर देगी। पाप और अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष करते हुए उसे मिटाने के प्रयास में यदि कोई जाति अथवा देश नष्ट भी हो जाय तब भी इससे मनुष्य को शाश्वत संघर्ष की प्रेरणा प्राप्त होती रहेगी। क्योंकि कुछ व्यक्तियों की मृत्यु आदर्श को जीवित रखने में सक्षम होगी। भगवान श्रीकृष्ण का कार्य उपरोक्त सभी दृष्टियों से सुसंगत सिद्ध होता है।

भगवान राम के समक्ष इससे भिन्न परिस्थिति थी। किन्तु युद्ध न करने की दृष्टि से अर्जुन और सुग्रीव की मनोवृत्तियों में साम्य विद्यमान है। वस्तुतः सुग्रीव भावुकता के क्षणिक आवेश में ज्ञान, वैराग्य और भक्ति के समग्र सिद्धान्तों को उस स्थिति में ले जा रहा था, जहाँ सिद्धान्त केवल सिद्धान्त के लिए रह जाता है। जब वह इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है कि मैं सुख, सम्पत्ति, परिवार और बड़ाई का परित्याग कर आपकी भक्ति करूँगा। क्योंकि ये सारी वस्तुएँ राम भक्ति में बाधक हैं। तब वह भक्ति सिद्धान्त को ऐसी व्याख्या करता है जो बाहर से युक्ति-युक्त प्रतीत होते हुए भी आन्तर सत्य से सर्वथा दूर है। क्योंकि पौराणिक इतिहास में ऐसे शत-शत भक्तों का चरित्र प्राप्त होता है जो सुख, सम्पत्ति, परिवार और बड़ाई के बीच रहते हुए श्री राम चरणों के अनन्यानुरागी हैं। वस्तुतः राम भक्ति में व्यक्ति और वस्तु नहीं अपितु इन वस्तुओं में ममता और आसक्ति बाधक है। इसलिए प्रभु ने सारे सम्बन्धों से ममत्त्व को समेट कर अपने चरणों में लगाने का आदेश विभीषण को दिया—

जननी जनक बंधु सुत दारा।
तनु धनु भवन सुहृद परिवारा।।
सब कर ममता ताग बटोरी।
मम पद मनहिं बाँधु बरि डोरी।।

ममता और आसक्ति का परित्याग किए बिना त्याग व्यक्ति में अहंकार

की सृष्टि कर सकता है भक्ति की नहीं। ऐसे भी महापुरुषों के दृष्टान्त दिए जा सकते हैं जिन्होंने सुख, सम्पत्ति आदि का बहिरंग रूप से भी परित्याग कर दिया है। पर ये सब वही लोग थे जिन्होंने ममता और आसक्ति का पहले परित्याग कर दिया और फिर बहिरंग रीति से व्यक्ति और वस्तुओं का त्याग भी अपने आप हो गया। सुग्रीव के अन्तःकरण में ममता और आसक्ति पूरी तरह विद्यमान है। ऐसी स्थिति में उनके द्वारा सर्वत्याग की बात आत्म-प्रवंचना मात्र थी।

इसी प्रकार सृष्टि के मिथ्यात्त्व का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने जो निष्कर्ष प्रस्तुत किया वह ज्ञान की दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता है। मिथ्यात्त्व के ज्ञान का तात्पर्य व्यवहार की समाप्ति नहीं है। इसे स्पष्ट करने के लिए स्वर्ण के आभूषण का दृष्टान्त दिया जा सकता है। साधारणतया आभूषण का व्यवहार करने वाला प्रत्येक व्यक्ति आभूषण को किसी न किसी नाम और रूप के माध्यम से जानता है। सर्राफ (स्वर्णकार) यह भली प्रकार जानता है कि विविध नाम और रूप के होते हुए भी सब में मूल रूप से स्वर्ण धातु विद्यमान है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सर्राफ किसी को आभूषण के विशेष स्थान पर दूसरा आभूषण दे दे। इसी तरह सृष्टि के मिथ्यात्त्व का यह तात्पर्य नहीं है कि पापी और पुण्यात्मा दोनों से ही समान व्यवहार किया जाय। स्वयं ईश्वर भी अवतार लेकर जब पापियों को दण्ड देता है तब इस बहिरंग मर्यादा को प्रतिष्ठापित कर देता है। भले ही वह बध करने के पश्चात् उन्हें स्वयं में विलीन कर मुक्ति का दान दे दे। सृष्टि के मिथ्यात्व का इस ज्ञान का सम्बन्ध विचार से है। यह किसी भावनात्मक आवेश का परिणाम नहीं हो सकता। सुग्रीव जिस परमार्थ तत्त्व का निरूपण प्रभु के समक्ष कर रहे थे वह उनकी क्षणिक भावुकता को छोड़कर और कुछ नहीं थी। इस दृष्टि से भी सुग्रीव की बात को स्वीकार करना प्रभु के लिए सम्भव न था।

इस प्रसंग के माध्यम से प्रभु ने अपने सामाजिक दर्शन को भी पूरी तरह प्रगट कर दिया। भगवान राम के भ्रातृ-प्रेम को लेकर कई लोगों के अन्तःकरण में कुछ भ्रान्त धारणाएँ बद्धमूल हो गयी हैं। भ्रातृ-प्रेम एक सामाजिक धर्म है। पर इस भ्रातृ-प्रेम के नाम पर आज भी अपने भाई के न्याय, अन्याय पूर्ण सभी कार्यों का समर्थन किया जाता है, तब ऐसा प्रतीत होता है कि यह धर्म संकीर्णता स्वार्थ और अन्याय का रक्षा

कवच बन गया है। भगवान श्री राम, श्री भरत से अपार प्रेम करते हैं। उनके लिए राज्य का परित्याग कर देते हैं। क्या केवल इसीलिए कि वे उनके छोटे भाई हैं। कल्पना करें यदि श्री भरत जैसे सर्वगुण सम्पन्न भाई के स्थान पर यदि एक अवगुणी और क्रूर भाई होता तो क्या उसके लिए भी श्री राघवेन्द्र इसी प्रकार का त्याग कर सकते थे। क्या एक अत्याचारी भाई के हाथ में शासन सत्ता सौंप कर प्रजा को एक क्रूर शासक के अन्तर्गत उत्पीड़ित होने देते ? ऐसा कदापि सम्भव नहीं था। श्री भरत के चरित्र और ज्ञान पर उन्हें इतना विश्वास था कि वे निश्चिन्त थे कि भरत के शासन में प्रजा मेरी अपेक्षा भी अधिक सन्तुष्ट रहेगी। इसी विश्वास की घोषणा उन्होंने महर्षि बाल्मीकि से की थी—

तात बचन पुनि मातु हित, भाइ भरत अस राउ।
मो कहँ दरस तुम्हार प्रभु, सब मम पुन्य प्रभाउ॥

प्रभु के भ्रातृत्व का आधार केवल पिता या माता का एक होना नहीं है। जहाँ भी सद्भाव और आदर्श की एकता है वहाँ भ्रातृत्व स्वीकार करने के लिए प्रभु सहर्ष प्रस्तुत हैं। वे सुग्रीव को अपना एक भाई ही मानते हैं—

सुनि कृपालु बोले मुसुकाई॥
तुम्ह प्रिय मोहि भरत जिमि भाई॥

भौतिक दृष्टि से भले ही सुग्रीव और विभीषण के भाई के रूप में बालि और रावण का नाम लिया जाय किन्तु आदर्श की दृष्टि से प्रभु से श्री सुग्रीव और श्री विभीषण का भ्रातृत्व ही वास्तविक है। बालि के विरुद्ध सुग्रीव को संघर्ष के लिए प्रेरित करते हुए भगवान श्री राम अपने इसी आदर्श को समाज के समक्ष अभिव्यक्त कर देते हैं।

युद्ध या संघर्ष से भागना सृष्टि को उन लोगों के हाथ सौंप देना है जो अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करते हुए संसार को पराधीन बनाकर अपनी इच्छा के अनुकूल चलाना चाहते हैं। अर्जुन और सुग्रीव इसी भूल को दुहराने जा रहे थे। किन्तु उन दोनों की प्रार्थना इसीलिए स्वीकार नहीं की गई।

श्री रामः शरणं मम्

गीता के आदर्शों में दूसरा आदर्श स्वधर्म का है। जहाँ स्थितप्रज्ञ की कसौटी उसका आन्तरिक विवेक है, वहाँ स्वधर्म में बाह्य क्रिया

कलाप और आन्तरिक जीवन का समन्वय प्रस्तुत किया गया है। भगवान कृष्ण अर्जुन के जीवन में स्वधर्म की प्रतिष्ठा देखना चाहते हैं। क्योंकि वहाँ पर मुख्य समस्या का स्वरूप ही यह है कि अर्जुन युद्ध से विरत होना चाहता है। श्रीकृष्ण उसे युद्धकर्म की ओर प्रेरित करना चाहते हैं।

गीता में सकाम कर्म से लेकर निष्काम कर्मयोग तक की क्रमिक और तात्त्विक व्याख्या की गई है। प्रारम्भ में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन के समक्ष कर्म और उसके परिणाम का सहज आकर्षक रूप प्रस्तुत करते हैं। वे अर्जुन को प्रोत्साहित करते हुए कहते हैं 'अर्जुन, तुम्हें क्षत्रिय होने के नाते भी स्वधर्म से विचलित नहीं होना चाहिए, क्योंकि क्षत्रिय के लिए धर्मयुद्ध से बढ़कर और कोई अन्य धर्म नहीं है। अपनी इच्छा से स्वर्ग का खुला द्वार लेकर आनेवाला युद्ध क्षत्रिय के लिये सौभाग्य का परिचायक है। यदि तुम इस धर्मयुक्त युद्ध से विरत होते हो तब तुम्हारी कीर्ति नष्ट हो जाएगी और पाप का भागी बनना पड़ेगा। न जाने कब तक तेरी अपकीर्ति का लोग कथन करेंगे। सम्मानित पुरुष के लिए अयश मृत्यु से भी बढ़कर है। अन्य लोग जो तुम्हें बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते रहे हैं, तुझे भय से भागा हुआ मानकर अवहेलना की दृष्टि से देखेंगे। तेरे विरोधी अकथनीय शब्दों में तेरी निन्दा करेंगे। इससे बढ़कर दुःख को और क्या बात होगी। या तो युद्ध में मर कर स्वर्ग प्राप्त होगा या पृथ्वी को जीतकर तुम उसका उपभोग करोगे। इसलिए युद्ध का दृढ़ निश्चय लेकर उठ खड़ा हो।'—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥
भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥

अवाच्यवादाँश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ।।
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ।।

धर्म के प्रथम सोपान की यह बड़ी ही मनोवैज्ञानिक व्याख्या है। साधारणतया मनुष्य जिन प्रवृत्तियों से परिचालित होता है, उसके सदुपयोग का यह सर्वश्रेष्ठ प्रयास है। वर्ण-व्यवस्था में गुण, कर्म को जिस भाँति विभाजित किया गया है उसका तात्पर्य मानव प्रकृति का समाज के लिए सर्वश्रेष्ठ नियमन है। समानता का सिद्धान्त स्वीकार करने वालों को वर्ण-व्यवस्था में भेद और अन्याय का दर्शन होता है। किसी भी व्यवस्था की विकृति में उसके दुरुपयोग की सम्भावना तो होती ही है। सदा से वर्ण-व्यवस्था संकीर्ण और अन्याय पूर्ण नहीं रही है। हाल में ही जब डा० हरगोविन्द खुराना को 'जीन' सिद्धान्त पर नोबल-पुरस्कार प्रदान किया गया तब एक भारतीय समालोचक ने खुराना का अभिनन्दन करते हुए भी यह भय प्रगट किया था कि इससे कहीं एक नई प्रकार की वर्ण-व्यवस्था का सृजन न हो जाय। इस प्रकार का भय स्वाभाविक होते हुए भी अवैज्ञानिक है। यह ठीक है कि खुराना के सिद्धान्त से बहुप्रचारित यह सिद्धान्त मिथ्या हो जाता है कि सभी व्यक्ति समान होकर जन्म लेते हैं। किन्तु सामाजिक विषमताओं और वातावरण की भिन्नता के कारण उनमें पार्थक्य आ जाता है। मानवीय संवेदना से उपजा हुआ यह सिद्धान्त यदि विज्ञान की कसौटी पर खरा नहीं उतरता तो संवेदना और समानता के पक्ष में अन्य कई तर्क ढूँढ़े जा सकते हैं। पर विज्ञान के द्वारा सत्य की जो अभिव्यक्ति होती है उसे दुरुपयोग के भय से अस्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। हाल के वर्षों में जब अंग प्रतिरोपण सम्बन्धी प्रक्रियाओं का शल्य-चिकित्सा के क्षेत्र में अधिकाधिक प्रयोग प्रारम्भ हुआ तब भी यह विजातीयता का प्रश्न चिकित्सकों के सामने आता रहा है। बहुधा व्यक्ति का शरीर दूसरों के द्वारा उपलब्ध अंग को स्वीकार करने में असहमत हो जाता है। इससे भी यह प्रमाणित हो जाता है कि प्रकृति में भी एक प्रकार का जाति भेद है। वर्ण-व्यवस्था के पीछे भी संस्कारों के वर्गीकरण का भाव विद्यमान था। अनुभव से और व्यवहारिक समाज रचना की दृष्टि से यह मानकर चला गया था कि पृथक-पृथक वर्णों की अपनी अलग-अलग विशिष्टता है और उसी

दिशा में प्रयत्न करते रहने पर वे अधिकाधिक विकसित हो सकते हैं। इसके अपवाद के रूप में भी अनेक दृष्टान्त दिए जा सकते हैं और ऐसे विशिष्ट व्यक्तियों ने अपनी विशेष योग्यता को मानने के लिए समाज को बाध्य कर दिया। किन्तु इस व्यवस्था का सबसे दुःखद पक्ष यह था कि चतुर्थ वर्ण को अत्यन्त हीन और घृणा का पात्र समझ लिया गया। अतः इस व्यवस्था के प्रति विद्रोह भी स्वाभाविक है। किन्तु वर्ण-व्यवस्था का मूल सिद्धान्त ऐसा नहीं जान पड़ता। प्रत्येक व्यवस्था के समान इस व्यवस्था के भी अपने दोष और गुण हैं। पर मूल रूप में उसका उद्देश्य संस्कारों का सदुपयोग करना है। क्षत्रिय के संस्कारों में तेजस्विता की प्रधानता मानी जाती थी। ऐसी स्थिति में उस तेजस्विता का सदुपयोग किया जाना आवश्यक था। क्योंकि यदि उसे नियमन द्वारा उचित दिशा में प्रयुक्त न किया जाय तो उसका दुरुपयोग अवश्यम्भावी था। इसलिए क्षत्रिय का मुख्य धर्म युद्ध करना माना गया था। पर युद्ध की भी अपनी मर्यादाएँ थीं। उसे युद्ध ही नहीं धर्म-युद्ध करने का आदेश दिया गया। युद्ध स्वयं में धर्म नहीं है। यह वह अवश्यम्भावी बुराई है जिसे विश्व में अन्याय, अत्याचार के रहते दूर नहीं किया जा सकता। इससे भागने के दो ही परिणाम हो सकते हैं—१. अन्याय और अत्याचार करने वालों को खुली छूट, और २. युद्ध से विरत होने की चेष्टा के पीछे दया की ओट में कायर वृत्ति का पोषण। यह स्थिति समाज और व्यक्ति दोनों के लिए घातक है। युद्ध की अस्वीकृति छोटी बुराई के स्थान पर बड़ी बुराई का कवच बन सकती है। अतः युद्ध के प्रति क्षत्रिय को प्रोत्साहित करना आवश्यक है। भगवान श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन को उत्तेजित करते हुए उसको स्वधर्म का प्रथम पाठ पढ़ाया। वस्तुतः स्वधर्म शब्द बड़े व्यापक अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। यह आवश्यक नहीं है कि स्वधर्म शब्द का कोई सार्वकालिक अर्थ हो। एक क्षत्रिय संन्यास ले लेने पर युद्ध को स्वधर्म के रूप में स्वीकार नहीं कर सकता। क्योंकि तब उसका 'स्व' जाति के स्थान पर आश्रम में केन्द्रित हो जाता है। इसका यह स्पष्ट तात्पर्य है कि स्व अथवा स्वधर्म कोई जड़ केन्द्रित वस्तु नहीं है। वह देश काल और परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तित होता रहता है। इस समय अर्जुन का स्वधर्म युद्ध था। क्योंकि उसने स्वयं के क्षत्रियत्त्व को अस्वीकार नहीं किया था। शस्त्र सन्नद्ध होकर वह कुरुक्षेत्र में युद्ध के लिए आया था। इसी उद्देश्य से उसने अपने रथ को दोनों सेनाओं के मध्य में ले चलने

का भगवान श्रीकृष्ण से अनुरोध किया था। ऐसी परिस्थिति में उसके द्वारा शस्त्र का त्याग क्षणिक आवेश का परिणाम था। न तो वह क्षात्र स्वभाव से ऊपर उठा था और न तो उसमें रजोगुण के स्थान पर शुद्ध सात्त्विक वृत्ति का उदय ही हुआ था। ऐसी स्थिति में स्वधर्म का क्षणिक त्याग उसे ऐसी परिस्थिति में ला देता जो भविष्य में उसे ऐसी ग्लानि में डालता जिससे उसकी निष्कृति नहीं थी। इस प्रकार का क्षणिक आवेश मानव मन में आया ही करता है। अर्जुन से पहिले भीमसेन जैसे आवेश-शील योद्धा के मन में भी इससे मिलती-जुलती भावनाओं का उदय हुआ था। महाभारत के उद्योग पर्व में इसका एक चित्र देखने को मिलता है। सन्धिदूत के रूप में श्रीकृष्ण को हस्तिनापुर जाते देखकर भीमसेन का हृदय आशंकित हो उठा कि कहीं कृष्ण अपने उग्र भाषण से युद्ध को अनिवार्य न बना दें और तब उसने श्रीकृष्ण से अनुरोध किया कि वे ऐसा प्रयत्न करें कि जिससे युद्ध समाप्त हो जाय। इसके लिए भीमसेन दुर्योधन के समक्ष सदा झुक कर रहने के लिए प्रस्तुत थे—

तस्मान्मृदु शनैर्ब्रूयाद् धर्मार्थसहितं हितम्।
कामानुबन्धबहुलं नोग्रमुग्रपराक्रम ॥
अपि दुर्योधनं कृष्ण सर्वे वयमधश्चराः।
नीचैर्भूत्वाऽनुयास्यामो मा'स्म नो भरतानशन् ॥

अतः भयंकर पराक्रमी श्रीकृष्ण ! आप उससे कुछ भी कहें, कोमल एवं मधुर वाणी में धीरे-धीरे कहें। आपका कथन धर्म एवं अर्थ से युक्त तथा हितकर हो। उसमें तनिक भी उग्रता न आने पावे। साथ ही इसका भी ध्यान रखें कि आपकी अधिकांश बातें उसकी रुचि के अनुकूल हों। भगवन् ! हम सब लोग नीचे पैदल चल कर अत्यन्त नम्र होकर दुर्योधन का अनुसरण करते रहेंगे, परन्तु हमारे कारण से भरतवंशियों का नाश न हो।

यह वही भीमसेन थे जिन्होंने द्रौपदी के चीर-हरण के अवसर पर दुःशासन का रक्त पीने की प्रतिज्ञा की थी और दुर्योधन की जंघा तोड़ देने का व्रत लिया था। निश्चित रूप से करुणा की भावना क्षणिक रूप से उनके बहिरंग मन में उदित हुई थी। अवसर आने पर उन्होंने अपनी प्रतिज्ञाओं को बड़ी निर्ममता से पूर्ण किया। अर्जुन की करुणा भी ठीक इसी श्रेणी में थी। इसीलिए श्रीकृष्ण क्षणिक आवेश को स्वधर्म मानने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं।

रामचरितमानस में भी स्वधर्म का उल्लेख कई प्रसंगों में किया गया है। मानस में इसके लिए स्वधर्म और निजधर्म दोनों शब्दों का ही प्रयोग किया गया है।

प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती।
निज-निज धर्म निरत श्रुति नीती॥
× × ×
सब नर करहिं परस्पर प्रीती।
चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥

द्वापर युग में अन्तर्द्वन्द्व की पग-पग में परिलक्षित होने वाली वृत्ति का त्रेतायुग में अभाव था। द्वापर युग का व्यक्ति किंकर्तव्यविमूढ़ है। वह अनिश्चय की ऐसी स्थिति में पहुँच चुका है कि जटिल से जटिल परिस्थितियों में भी औचित्य का निर्णय नहीं कर पाता। इसका सर्वाधिक दुःखद दृष्टान्त था द्रौपदी का चीर-हरण। जिस सभा में भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य जैसे महापुरुष विद्यमान हों वहाँ इतना बड़ा अन्याय हो पाना तो अभूतपूर्व था ही किन्तु द्रौपदी के द्वारा प्रश्न किए जाने पर भी पितामह भीष्म जैसे धर्मज्ञ जब निर्णय देने में असमर्थता प्रगट करते हैं तब उस युग की किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता का इससे बड़ा दृष्टान्त क्या हो सकता है? भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा जैसे व्यक्ति कौरवों के कार्य को अन्यायपूर्ण समझते हुए भी युद्ध में उसका साथ देते हैं। क्योंकि उनकी दृष्टि में यह स्वधर्म था। प्रचलित रूढ़ियों और परम्पराओं से अलग हट कर शास्त्र और विवेक के द्वारा धर्म के सच्चे स्वरूप के निर्णय का साहस इनमें किसी में भी नहीं था। इसीलिए गीता के स्वधर्म शब्द से आज भी ऐसे अर्थ निकाले जाते हैं जो धर्म को सर्वथा उपहासास्पद बना देते हैं। इस तरह यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्यों को स्वधर्म सिद्ध करने का प्रयास करे तब फिर अधर्म शब्द की आवश्यकता ही क्या है। क्योंकि गीता में युद्ध रूप धर्म के समर्थन के लिए स्वधर्म शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः ऐसे लोगों को जो सर्वदा स्वार्थ के समर्थन में युक्तियों की खोज में रहा करते हैं, बड़ा बल प्राप्त होता है। वे सोचते हैं कि यदि हिंसा जैसे कठोर कर्म भी स्वधर्म के नाते श्रेयष्कर हैं, तब उनके द्वारा किया जाने वाला कोई भी कार्य धर्म के विरुद्ध कैसे सिद्ध हो सकता है। इसी प्रवृत्ति पर व्यंग्य करते हुए तुलसीदास ने दोहावली रामायण में लिखा—

रामायण सिख अनुहरत, जग भयो भारत रीति।
तुलसी सठ की को सुनै, कलि कुचाल पर प्रीति॥

अर्थात् 'रामायण' की शिक्षाओं का अनुकरण छोड़कर लोग महाभारत की रीति का अनुगमन करना चाहते हैं। मुझ जैसे मूर्ख की बात कौन सुने। क्योंकि कलियुग में लोगों की कुचालि पर सहज प्रीति है। यह पंक्तियाँ गोस्वामी जी की महाभारत के प्रति अनास्था की परिचायक नहीं हैं। यह तो महाभारत के अर्थ को लेकर धर्म के विषय में उत्पन्न होने वाली भ्रांति की सूचक है। रामचरितमानस में स्वधर्म की व्याख्या के ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं जिनमें इस प्रकार की भ्रान्ति का कोई स्थान नहीं है। क्षात्र धर्म के प्रसंग में वहाँ भी युद्ध का उल्लेख प्राप्त होता है—

देव दनुज भूपति भट नाना।
समबल अधिक होउ बलवाना॥
जौं रन हमहिं पचारै कोऊ।
लरहिं सुखेन काल किन होऊ॥
छत्रिय तनु धरि समर सकाना।
कुल कलंकु तेहि पाँवर जाना॥
कहउँ सुभाउ न कुलहि प्रशंसी।
कालहु डरहिं न रन रघुवंसी॥

क्षात्र धर्म की इस व्याख्या में सबसे बड़ा सन्तुलन यही है कि स्वयं भगवान राम क्षात्र धर्म की यह व्याख्या करते हुए भी परशुराम से युद्ध करने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं। यद्यपि परशुराम उन्हें युद्ध के लिए चुनौती दे रहे थे—

करि परितोषु मोर संग्रामा।
नाहि त छाँड़ि कहाउब रामा॥
छल तजि करिअ समर सिव द्रोही।
बंधु सहित न त मारउँ तोही॥

ऐसी उत्तेजनापूर्ण चुनौती के बाद भी भगवान राम शान्त रहे। क्योंकि क्षात्र धर्म का अर्थ वे युद्ध के लिए व्यग्रता नहीं मानते। इसीलिए क्षात्र धर्म की इस व्याख्या के साथ एक पंक्ति और जोड़कर भगवान राम ने क्षात्र धर्म को संतुलित अर्थ प्रदान किया। वह पंक्ति है—

बिप्र बंस की असि प्रभुताई।
अभय होइ जो तुम्हहिं डराई॥

निर्भयता क्षत्रिय का गुण है। यह तो सर्वत्र प्रतिपादित किया गया है। महाभारत में तो अनगिनत बार ऐसा लिखा गया है। किन्तु भगवान राम का यह वाक्य सर्वथा अनुपम है जब वे क्षात्र धर्म के साथ भय का लक्षण और जोड़ देते हैं। वे कहते हैं कि ब्राह्मण वंश की यह अद्भुत महिमा है कि जो आप लोगों से डरता है वह अभय हो जाता है। भगवान राम का जीवन दर्शन भी यही है। अभय के साथ-साथ जीवन में सत्पुरुषों से भय मानना यही सच्चा क्षात्र-धर्म है। इस प्रसङ्ग में भीष्म का स्मरण आना स्वाभाविक है। उनके समक्ष भी परशुराम थे। भगवान राम परशुराम के विवाद का कोई औचित्य नहीं था। किन्तु भीष्म के समक्ष परशुराम एक उचित प्रश्न लेकर गए थे। भीष्म ने काशिराज की तीन कन्याओं का राजसभा से अपहरण किया था। यह अपहरण भी मात्र अहं की तुष्टि के लिए था। वे राजाओं के समक्ष अपना पौरुष प्रदर्शित करने के लिए इस प्रकार का कार्य करते हैं। स्वयं वे विवाह न करने के लिए कृत-संकल्प थे। अपहृत कन्याओं में से दो का विवाह उन्होंने अपने दो भाइयों से कर दिया। एक अवशिष्ट कन्या महाराज शाल्व के प्रति आसक्त थी। भीष्म ने उसे शाल्व के पास जाने की आज्ञा प्रदान कर दी, इस प्रकार से अपहृता कन्या को शाल्व ने स्वीकार करने में असमर्थता प्रगट कर दी। वहाँ से निराश होकर कन्या ने पुनः भीष्म को उलाहना दिया। भीष्म के लिए यह उचित था कि वे उस कन्या का विवाह अपने भाइयों में से किसी को कर देते, क्योंकि इस परिस्थिति के लिए वे ही जिम्मेदार थे। किन्तु उन्होंने उस कन्या की इस याचना को अस्वीकार कर दिया। अपमानित कन्या ने परशुराम की शरण ली। परशुराम, भीष्म से यह आग्रह करने के लिए पधारे किन्तु भीष्म ने उनकी भी आज्ञा को अस्वीकार कर दिया। परशु-राम उनके गुरु थे और एक उचित पक्ष लेकर वे उनके पास आए थे। फिर भी उन्होंने तेइस दिनों तक परशुराम से घोर युद्ध किया। अन्त में दोनों से शस्त्र त्याग का अनुरोध किये जाने पर भीष्म इस हठ पर अड़े रहे कि क्षात्र-धर्म के नाते वे पहले अस्त्र का परित्याग नहीं कर सकते। अन्त में परशुराम को ही पहले अस्त्र का परित्याग करना पड़ा। भीष्म के क्षात्र-धर्म और भगवान राम के क्षात्र-धर्म में यही सबसे बड़ा अन्तर है कि भगवान राम जहाँ सत्पुरुषों से सदा हार मानने के लिए प्रस्तुत हैं वहाँ

भीष्म इसके लिए प्रस्तुत नहीं हैं।

गीता में स्वधर्म की अत्यधिक सराहना की गई है। भगवान् कृष्ण ने स्वधर्म की महिमा का प्रतिपादन करते हुए यहाँ तक कह दिया कि दूसरों के सुआचरित धर्म की अपेक्षा अपना गुण रहित धर्म भी श्रेष्ठ है। अपने धर्म का पालन करते हुए मर जाना भी कल्याणकारी है किन्तु दूसरों का धर्म भयावह है—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

सूत्र के रूप कहा गया यह वाक्य जटिलताओं से भरा हुआ है। स्वधर्म और परधर्म की कसौटी क्या है ? गुण रहित स्वधर्म गुणयुक्त दूसरों के धर्म की अपेक्षा श्रेष्ठ क्यों है ? इन प्रश्नों की जटिलता को गीताकार ने स्पष्ट रूप में स्वीकार किया—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥

"कर्म क्या है ? और अकर्म क्या है ? इस प्रकार का निर्णय करने में विद्वान भी मोहित हो जाते हैं। इसलिए मैं तुझे कर्मतत्त्व समझाऊँगा जिससे तू कर्म बन्धन से मुक्त हो जायेगा।"

कर्म की इस समस्या का समाधान क्या है ? श्रीकृष्ण इस प्रश्न का उत्तर दो रूपों में देते हैं। कर्म का निर्णय शास्त्र द्वारा होता है अतः व्यक्ति को शास्त्रानुकूल आचरण करना चाहिए—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥
त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥
यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामराग बलान्विताः ॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्धयासुरनिश्चयान् ॥

गीता में कर्म की समस्या का विवेचन अनेक स्थलों पर किया गया है पर वे विवेचन सूत्रात्मक पद्धति में किए गए हैं। मानस में इस सम्बन्ध में न तो किसी पात्र के द्वारा कोई प्रश्न ही किया गया है और न तो स्वयं किसी वक्ता ने ही इस पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है। मानस में अधिकांश प्रश्न ज्ञान या भक्ति को लेकर ही किए गए हैं। प्रारंभ में ही बताया जा चुका है कि मानस में कर्मयोग, भक्तियोग का ही एक अंग है। इसलिए भक्ति की उपलब्धि के लिए सर्वप्रथम कर्मयोग के पालन की आवश्यकता स्वीकार की गई है। लक्ष्मण ने भक्तियोग के सम्बन्ध में प्रश्न किया था। और भगवान राम ने उत्तर देते हुए सर्वप्रथम स्वधर्म के पालन पर बल दिया—

प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती ।
निज निज धर्म निरत श्रुति रीती ॥

निज धर्म का विश्लेषणात्मक वर्णन मानस में भले ही न किया गया हो पर विविध पात्रों के जीवन में उठने वाली समस्याओं के माध्यम से इस प्रश्न का जो उत्तर दिया गया है उसके द्वारा गीता के कर्मयोग को अधिक सरलता से हृदयंगम किया जा सकता है।

गीता में 'स्वधर्म' के प्रति यह आग्रह व्यवहारिक दृष्टि से भी बड़ा ही युक्ति संगत प्रतीत होता है। बहुधा यह देखा जाता है कि जब कोई व्यक्ति किसी कर्म में संलग्न होता है तब वह कर्म के गुण और दोषों को अत्यधिक निकटता से देख पाता है। जैसे अत्यधिक परिचय से व्यक्ति महापुरुषों की भी अवज्ञा करने लग जाता है ठीक उसी तरह कभी कभी व्यक्ति अत्यधिक निकटता के कारण 'स्वधर्म' में आकर्षण खो बैठता है। दूसरी ओर अन्य लोगों को दूर से देखने के कारण ही उनके धर्म अथवा उनके कार्यों में एक विशिष्टता की अनुभूति होती है। व्यवहारिक क्षेत्र में हम बहुधा ही अधिकांश व्यक्तियों को अपने कार्य से असंतुष्ट पाते हैं। स्वयं से भिन्न कार्य करने वालों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि वे पूरी तरह सुखी और सन्तुष्ट हैं। ऐसी स्थिति में वह यह सोचने लग जाता है कि काश कितना

अच्छा होता कि मुझे भी यही कार्य मिल जाता और ऐसी ही कल्पना सामनेवाले व्यक्ति के अन्तःकरण में भी उठती रहती है। 'पर धर्म' के प्रति यह आकर्षण यथार्थ न होकर बहुधा कल्पना से उत्पन्न होता है। समाज की सुव्यवस्था और व्यक्ति की आत्मतुष्टि के लिए भी यह आवश्यक है कि व्यक्ति के अन्तःकरण में 'स्वधर्म' के प्रति आकर्षण उत्पन्न हो। श्रीकृष्ण अर्जुन को 'स्वधर्म' में स्थित रहने की प्रेरणा देते हैं।

रामचरित मानस में भगवान राम भी 'स्वधर्म' को अत्यधिक महत्व देते हैं। परशुराम के द्वारा चुनौती दिए जाने पर भी उनसे युद्ध के लिए प्रस्तुत न होकर श्री राघवेन्द्र इस 'स्वधर्म' को सच्चा अर्थ प्रदान करते हैं। चुनौती दिए जाने पर क्षत्रिय को युद्ध के लिए सहर्ष प्रस्तुत होना चाहिए इसे वे स्वीकार करते हैं—

देव दनुज भूपति भट नाना।
सम बल अधिक होउ बलवाना॥
जौं रन हमहि पचारै कोऊ।
लरहिं सुखेन कालु किन होऊ॥
छत्रिय तनु धरि समर सकाना।
कुल कलंकु तेहिं पावँर आना॥
कहउँ सुभाव न कुलहि प्रसंसी।
कालहु डरहिं न रन रघुबंसी॥

फिर भी वे परशुराम से युद्ध नहीं करना चाहते। क्योंकि युद्ध की स्वीकृति से राम के 'स्वधर्म' की रक्षा तो हो सकती है पर यह युद्ध परशुराम के लिए स्वधर्म की च्युति का हेतु बन जाता। श्रीराम परशुराम को भी स्वधर्म में स्थित देखना चाहते है इसीलिए वे परशुराम को बार-बार मुनि और विप्र कहकर सम्बोधित करते हैं। परशुराम को यह सम्बोधन प्रिय नहीं लगता वे इस सम्बोधन से क्रुद्ध हो उठते हैं और उत्तेजित स्वर में कह उठते हैं 'तू मुझे कोरा ब्राह्मण समझता है। मैं साधारण यज्ञ करनेवाला ब्राह्मण नहीं। मेरा क्रोध ही अग्निकुण्ड है और चाप स्रुवा, राजाओं की चतुरंगिणी सेना समिधा तथा राजा पशु। मैंने इसी परशु से इन बलि पशुओं को काटकर करोड़ों समर यज्ञ किए हैं'—

बार बार मुनि बिप्रबर कहा राम सन राम।
बोले भृगुपति सरुष हँसि तहूँ बंधु सम बाम॥

निपटहिं द्विज करि जानहि मोही ।
मैं जस बिप्र सुनावउँ तोही ।।
चाप स्त्रुवा सर आहुति जानू ।
कोपु मोर अति घोर कृसानू ।।
समिधि सेन चतुरंग सुहाई ।
महा महीप भए पसु आई ।।
मैं एहिं परसु काटि बलि दीन्हे ।
समर जग्य जप कोटिन्ह कीन्हे ।।
मोर प्रभाउ बिदित नहिं तोरें ।
बोलसि निदरि बिप्र के भोरें ।।

'स्वधर्म' के स्थान पर 'परधर्म' के प्रति आसक्ति का यह एक उत्कृष्ट दृष्टान्त है। वर्णाश्रम व्यवस्था में ब्राह्मण का स्थान क्षत्रिय की अपेक्षा अधिक ऊँचा है। इसी प्रकार अहिंसा की तुलना में हिंसा को भी निन्दा की दृष्टि से देखा गया है। फिर भी क्या यह अद्भुत नहीं प्रतीत होता कि परशुराम को विप्र शब्द में असम्मान की गन्ध आयी ? वे विप्र के स्थान पर स्वयं को एक वीर योद्धा के रूप में प्रतिष्ठित देखना चाहते हैं। हिंसात्मक यज्ञ की अपेक्षा अहिंसात्मक यज्ञ को निश्चित रूप से श्रेष्ठ माना जाता रहा है फिर भी वे स्वयं को समर यज्ञ के पुरस्कर्ता के रूप में प्रदर्शित करने के लिए व्यग्र हो उठे। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ऐसा होना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। ब्राह्मण के रूप में सम्बोधित किए जाने पर उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मणत्व का यह सम्मान जाति के आधार पर कोई भी ब्राह्मण पा सकता है। इस सम्बोधन में परशुराम को अपने व्यक्तिगत गौरव की स्वीकृति नहीं दिखाई देती।

भगवान राम, परशुराम को 'परधर्म' की इस आसक्ति से मुक्त करना चाहते हैं। इसीलिए वे क्षत्रिय जाति के गुण स्वभाव का वर्णन करने के पश्चात् यह स्पष्ट कर देते हैं कि निर्भयता क्षत्रिय का स्वभावसिद्ध गुण होते हुए भी ब्राह्मणों के समक्ष भयभीत होना हो उसके क्षात्र तेज की चरम सार्थकता है—

बिप्रबंस कै असि प्रभुताई ।
अभय होइ जो तुम्हहि डेराई ।।

परशुराम को इस व्याख्या में एक नई दृष्टि का दर्शन होता है।

क्षत्रिय धर्म की व्याख्या में निर्भयता को ही क्षात्र धर्म स्वीकार किया गया है। इसी व्याख्या के आधार पर द्वापर युग में भीष्म, परशुराम के समक्ष झुकने के लिए प्रस्तुत नहीं होते। भगवान राम निर्भयता के दर्शन को सही रूप में प्रस्तुत करते हैं। किसी व्यक्ति के निर्भय होने का तात्पर्य क्या है ? क्या इसका तात्पर्य यह है कि जो निर्भय होकर सबको भयभीत कर दे उसे हम निर्भय व्यक्ति के रूप में स्वीकार कर लें ? ऐसी निर्भयता जो लोक मानस में आतंक की सृष्टि कर दे किसी भी तरह सद्गुण के रूप में स्वीकार नहीं की जा सकती। वास्तविक निर्भयता वही है जहाँ व्यक्ति स्वयं निर्भय रहता हुआ दूसरों को अभयदान देता है। अतः ऐसी निर्भयता के पीछे विवेक का नियन्त्रण आवश्यक है। भगवान राम का संकेत इसी ओर था। जब वे कहते हैं कि ब्राह्मण के समक्ष भयभीत होनेवाला ही सच्चे अर्थों में निर्भय होता है तब वे परशुराम की उस मान्यता का खण्डन कर देते हैं जिसके आधार पर वे दूसरों को सन्त्रस्त कर देना ही सच्ची वीरता का लक्षण मान बैठे हैं। जब कोई व्यक्ति दूसरों के समक्ष नहीं झुकता तब उसकी आन्तरिक दुर्बलता ही इसमें प्रतिबिम्बित होती है। क्योंकि उसे यह आन्तरिक भय सताता रहता है कि दूसरों के समक्ष नत होते ही मैं छोटा मान लिया जाऊँगा। वस्तुतः भगवान राम परशुराम को विप्र शब्द से सम्बोधित करते हुए 'स्वधर्म' की स्मृति दिलाना चाहते थे। वे यह संकेत दे देना चाहते थे कि अस्त्र-शस्त्र के धारण करने से उनके गौरव में अल्पता ही आती है। बड़े मधुर शब्दों में उन्होंने यह निवेदन किया था कि यदि आप मुनि के वेष में आते तो लक्ष्मण आपकी 'चरण धूलि को माथे पर चढ़ाता'। आपके वेष की भ्रान्ति ही उसे प्रतिद्वन्द्विता की दिशा में प्रेरित करती है—

जौं तुम्ह औतेहु मुनि की नाईं।
पद रज सिर सिसु धरत गोसाईं॥
छमहु चूक अनजानत केरी।
चहिअ बिप्र उर कृपा घनेरी॥

भगवान राम के शील और सौजन्य के समक्ष परशुराम पराजित हो जाते हैं किन्तु यह पराजय ऐसी थी जिस पर पराजित स्वयं को गौरवन्वित अनुभव करता है। यह एक ऐसा विलक्षण संघर्ष था जिसमें क्षत्रिय ने शस्त्र उठाकर संघर्ष करने के स्थान पर स्वयं को पराजित स्वीकार कर लिया—

हमहि तुम्हहि सरबरि कसि नाथा।
कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा॥
राम मात्र लघु नाम हमारा।
परसु सहित बड़ नाम तोहारा॥
देव एक गुनु धनुष हमारे।
नव गुन परम पुनीत तुम्हारें॥
सब प्रकार हम तुम्ह सन हारे।
छमहु बिप्र अपराध हमारे॥

दूसरी ओर परशुराम स्वयं को पराजित अनुभव करते हुए श्री राघवेन्द्र को अपना धनुष अर्पित कर देते हैं और वन में तपस्या के लिए चले जाते हैं। भगवान राम विनय और शील के माध्यम से परशुराम को 'स्वधर्म' में प्रतिष्ठित करने में सफल होते हैं।

यद्यपि गीता में 'स्वधर्म' शब्द का प्रयोग बड़े व्यापक अर्थ में किया गया है फिर भी 'स्वधर्म' की व्याख्या में वर्णधर्म को ही प्रधानता दी गई है। 'स्वधर्म' शब्द अपने व्यापक अर्थों में अराजकता की ही सृष्टि कर सकता है क्योंकि यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने 'स्वधर्म' का निर्णय करने में स्वतन्त्र मान लिया जाय तब वह अपनी उच्छृंखल मनोवृत्ति को ही 'स्वधर्म' का रूप दे देगा। इसलिए वर्णधर्म को 'स्वधर्म' के रूप में प्रस्तुत करते हुए उच्छृंखलता के मार्ग को अवरुद्ध करने की चेष्टा की गई है। कुछ लोग इस नियम के अपवाद हो सकते हैं पर उन अपवादों को दृष्टान्त मान कर नियमों का निर्धारण नहीं किया जा सकता। इसलिए गीता में 'स्वधर्म' के निर्णय के लिए वर्णधर्म की भी व्याख्या की गई है। भगवान कृष्ण वर्णविभाजन को मानवीय कृति नहीं मानते। वर्णविभाजन मेरी ही कृति है इसकी वे स्पष्ट घोषणा करते हैं। मैंने गुण कर्म को दृष्टिगत रखकर वर्णों का निर्माण किया है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागसः

गीता के ही समान मानस में भी वर्णधर्म को मुख्य रूप से स्वधर्म के रूप में प्रस्तुत किया गया है। रामराज्य के रूप में जिस आदर्श समाज का चित्र प्रस्तुत किया गया है उसमें रामराज्य का प्रत्येक नागरिक वर्णाश्रम धर्म का पालन करता हुआ स्वधर्म में रत दिखाया गया है। परिणामस्वरूप सारा समाज भय, शोक और रोग से मुक्त है। उसे सारे सुख उपलब्ध हैं—

वर्णाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहि भय सोक न रोग ॥

इसके विपरीत कलियुग की निन्दास्पद मनोवृत्तियों में वर्णाश्रम विरोध की प्रवृत्ति का भी उल्लेख किया गया है—

बरन धरम नहिं आश्रम चारी।
स्रुति बिरोध बस सब नर नारी ॥

गीता के ही समान मानस में भी वर्णधर्म का उल्लेख है। किन्तु दोनों की वर्णन शैली में भिन्नता है। यहाँ तुलना के लिए दोनों ग्रन्थों में वर्णित वर्णधर्म का उल्लेख आवश्यक है। गीता की निम्नलिखित पंक्तियों में वर्णधर्म का वर्णन किया गया है—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम् ॥

अन्तःकरण का निग्रह, इन्द्रियदमन, तप, शौच, शान्ति, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्मस्वभावजम् ॥

शौर्य, तेज, धैर्य, चतुरता, युद्ध में स्थिर रहना, दान और स्वामिभाव क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं।

कृषि गौरक्ष वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥

खेती, गोपालन, व्यापार यह वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं। शूद्र का स्वाभाविक कर्म सेवा है।

रामचरितमानस में वर्णाश्रम धर्म का वर्णन गुरु वशिष्ठ के द्वारा इन पंक्तियों में किया गया है—

सोचिअ बिप्र जो बेद बिहीना।
तजि निज धरमु बिषय लयलीना ॥

वह ब्राह्मण शोक करने योग्य है जो वेदज्ञान से शून्य है और 'स्व-धर्म' का परित्याग कर विषय सेवन में लगा हुआ है।

सोचिअ नृपति जो नीति न जाना।
जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना ॥

वह राजा शोक करने योग्य है जिसे नीति का ज्ञान नहीं है और जिसे प्रजा प्राण के समान प्रिय नहीं है।

सोचिअ बयसु कृपन धनवानू।
जो न अतिथि सिव भगति सुजानू ।।

वह वैश्य शोक करने योग्य है जो धनवान होते हुए भी कृपण है तथा जो अतिथि और शिव का भक्त नहीं है।

सोचिअ सूद्र बिप्र अवमानी।
मुखर मान प्रिय ग्यान गुमानी ।।

वह शूद्र शोक करने योग्य है जो ब्राह्मणों की अवहेलना करता है तथा जो स्वयं को ज्ञानी मानकर बकवादी हो गया है और सम्मान की इच्छा रखता है।

बहिरंग दृष्टि से गीता और मानस की शब्दरचना में बहुत भिन्नता प्रतीत होती है किन्तु भावात्मक दृष्टि से दोनों में बहुत साम्य है। गीता में जहाँ चारों वर्ण के गुण और कर्म का वर्णन किया गया है वहाँ मानस में यह दिखाने की चेष्टा की गई है कि ऐसे भी व्यक्ति हो सकते हैं जो किसी वर्ण विशेष में जन्म लेकर भी 'स्वधर्म' का पालन न कर रहे हों। मानस की दृष्टि में ऐसे सभी व्यक्ति शोक करने योग्य हैं। गीता के वर्णन में चारों वर्णों के गुणों का उल्लेख किया गया है। मानस में गुण की अपेक्षा उद्देश्यों को अधिक महत्व दिया गया है। केवल ब्राह्मण वर्ण के लक्षणों को ही इसमें अपवाद मान सकते हैं। गीता में ब्राह्मण वर्ण के लक्षणों में जिन नौ गुणों की आवश्यकता बताई गई है मानस में भी उसे परशुराम प्रसंग में स्वीकार किया गया है—

नाथ एकु गुनु धनुष हमारे।
नव गुनु परम पुनीत तुम्हारे ।।

वर्णधर्म के प्रसंग में गोस्वामी जी इसे भिन्न रूप में दो लक्षणों के रूप में रखते हैं। मानस की दृष्टि में ब्राह्मण को वेदज्ञ होना चाहिए। यहाँ वे मनुस्मृति में कथित ब्राह्मण वर्ण के लक्षण से अधिक समीप जान पड़ते हैं। मनुस्मृति में ब्राह्मण के छः कर्म गिनाए गए हैं—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत ।।

अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह इन षट्कर्मों में वेद ज्ञान की ही अपेक्षा है। अतः पंक्ति के पहले भाग में जहाँ मनुस्मृति

के लक्षणों को संक्षिप्त किया गया है वहाँ पंक्ति के दूसरे भाग में गीता में कथित लक्षणों को सूत्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है। मानस की दृष्टि में ब्राह्मण शरीर विषय सेवन के लिए नहीं है। यदि ब्राह्मण वेदज्ञान के द्वारा भी विषय की उपलब्धि को ही लक्ष्य बना ले तब उन्हें उसमें ब्राह्मण वर्ण की सार्थकता नहीं दिखाई देती। विषयों से मुक्त होने के लिए ब्राह्मण में वे ही गुण अपेक्षित हैं जिनका उल्लेख गीता में किया गया है। शम, दम, तप, आदि से ही व्यक्ति विषयाभिमुख वृत्ति से मुक्त हो सकते हैं। इस तरह मनुस्मृति और गीतोक्त दोनों ही लक्षणों को मानस की एक पंक्ति में समेट लिया गया है।

क्षत्रिय वर्ण के लक्षण में भी मानस में गुणों के स्थान पर उद्देश्य-मूलकता को ही अधिक गौरव प्रदान किया गया। क्षत्रिय का मुख्य कर्तव्य है प्रजा का संरक्षण। व्यक्ति को सबसे अधिक प्रिय प्राण होता है। प्राण के संरक्षण के लिए जैसे व्यक्ति सभी उपाय करता है उसी प्रकार मानस की मान्यता के अनुकूल राजा (क्षत्रिय) को प्रजा से प्राण के समान प्रेम करना चाहिए। गीता में क्षत्रिय के शौर्य धैर्य आदि जिन गुणों का उल्लेख किया गया है मानस की दृष्टि में उनकी सार्थकता तभी है जब इन गुणों का उपयोग प्रजा के संरक्षण में किया जाय, नहीं तो यह सम्भव है कि इन गुणों के द्वारा राजा अपने अहं का प्रदर्शन ही करे। इस तरह जहाँ गीता में क्षत्रिय के गुणों का वर्णन प्राप्त होता है वहाँ मानस में उन गुणों की उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है। मानस की मान्यता के अनुकूल राजा को राजनीति का भी ज्ञान होना चाहिए क्योंकि शासन की सुव्यवस्था के लिए राजनीति का ज्ञान परमावश्यक है।

वैश्य लक्षण में यह दृष्टिभेद और स्पष्ट हो जाता है। गीता में उन कर्मों की ओर संकेत किया जाता है कि जिनके माध्यम से वैश्य धन उपार्जित करता है। किन्तु मानस का प्रश्न तो यह है कि कृषि, गोपालन और वाणिज्य के द्वारा वैश्य जिस धन का उपार्जन करेगा उसका उपयोग किस दिशा में होगा। यदि वह विविध माध्यमों से धन संग्रह करता हुआ स्वयं को वैश्य धर्म में आरूढ़ मान ले तो इसे मानस की दृष्टि में वैश्य वर्ण का धर्म स्वीकार करना सम्भव न होगा। मानस की दृष्टि में वैश्य को इस धन का उपयोग अतिथि और शिवपूजा में करना चाहिए। शिव-पूजा का एक तात्पर्य यह भी है कि जैसे शिव बड़े उदार दाता हैं उसी

प्रकार उनकी भक्ति करनेवाले वैश्य को भी उदारतापूर्वक धन का वितरण करना चाहिए।

गीता में परिचर्या (सेवा) शब्द के माध्यम से शूद्र वर्ण के धर्म की व्याख्या की गई है। सेवा-शब्द संक्षिप्त होते हुए भी व्यापक अर्थ वाला है। सेवाधर्म के साथ बड़ी ही मनोवैज्ञानिक जटिलता का सामना करना पड़ता है। सेवा जब स्वेच्छा से की जाती है तो उसमें गौरव की अनुभूति होती है पर वह जब किसी पर बलात् लादी जाती है तब या तो व्यक्ति में हीन भावना का उदय होता है या विद्रोही वृत्ति का उदय होता है। शूद्र में सेवा ऊपर से आरोपित है अतः उसकी प्रतिक्रिया भी स्वाभाविक है। गीता के काल में विद्रोह की समस्या नहीं थी। सम्भवतः उसे प्राक्तन कर्मों का परिणाम मानकर शूद्र वर्ण ने स्वीकार कर लिया हो। किन्तु गोस्वामी जी के काल में स्थिति परिवर्तित हो चुकी थी। विदेशी आक्रमणों से वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था हिल चुकी थी। वर्णधर्म को ईश्वर की कृति मानकर स्वीकार कर लेने की वृत्ति भी संशयाच्छन्न हो चुकी थी। उच्च वर्ण वालों का चरित्र इतना गिर चुका था कि अन्य लोगों के मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक था कि इतने दुष्कर्म के बाद भी किसी वर्ण का पवित्र माना जाना कैसे सुसंगत हो सकता है। त्रिवर्ण निरंकुश होकर अपनी मनमानी कर रहे थे। शूद्रों का आचरण उनकी तुलना में निश्चित रूप से श्रेष्ठ था। यद्यपि उस समय की मान्यता के अनुकूल उसे शूद्र का धर्म स्वीकार नहीं किया जाता था पर कलियुग धर्म के निरूपण के प्रसंग में विविध वर्णों पर जो आरोप लगाए गए हैं उन्हें केवल शास्त्रीय मान्यता के सन्दर्भ में ही निन्दनीय कहा जा सकता था। तुलना के लिए दो पंक्तियों का उद्धरण समीचीन होगा। ब्राह्मणों की अवस्था का चित्रण इन पंक्तियों में किया गया है—

बिप्र निरच्छर लोलुप कामी।
अनाचार सठ वृषली स्वामी॥

वहाँ शूद्रों की आलोचना में यह वाक्य कहा गया है—

शूद्र करहिं मख जप तप दाना।
मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना॥

ब्राह्मणों पर जो आरोप लगाए गए हैं वे तो हर दृष्टि से निन्दनीय हैं ही किन्तु शूद्र की जिन कार्यों के लिए समालोचना की गई है उन्हें स्वतः अपवित्र कर्म नहीं कहा जा सकता है। जप, तप, मख, दान, आदि स्वतः

प्रशंसनीय धर्म ही माने जाते हैं। ऐसी स्थिति में इनकी आलोचना का एकमात्र आधार यही था कि यह शूद्र का 'स्वधर्म' नहीं है। यहाँ गीता के उस सिद्धान्त की स्मृति आती है जिसमें श्रीकृष्ण ने सुआचरित होने पर भी 'परधर्म' को भयावह माना है। पर उस समय यह तर्क सरलता से शूद्र वर्ण के गले उतरनेवाला नहीं था। (आज तो और भी नहीं है)। उनके सामने तो एक सीधा सा तर्क था कि यह कितना बड़ा अन्याय है कि सत्कर्म करने पर भी हमें हीन माना जाय और दुष्कर्म करने पर भी ब्राह्मण पूज्य बना रहे। ऐसी स्थिति में समाज में अन्तःसंघर्ष उठना स्वाभाविक था। सामाजिक व्यवस्था में इस प्रकार की स्थिति अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न करनेवाली थी। अतः प्राचीन व्यवस्था के श्रद्धालुओं के द्वारा विशेष रूप से जब इसमें स्वार्थहानि की भी परिस्थिति जुड़ गई तो प्रतिक्रिया होना सहज था। घात-प्रतिघात की सी स्थिति में जो उद्‌गार निकल सकते थे उन्हीं को हम शूद्र धर्म की व्याख्या करनेवाली पंक्ति में प्रतिविम्बित पाते हैं। क्योंकि उसमें यह कहा गया है कि विप्र की अवमानना करनेवाला शूद्र शोक करने योग्य है। साथ ही उसके ज्ञानाभिमान और मुखरता के लिए भी उसकी आलोचना की गई है। जो लोग वर्णाश्रम धर्म को ईश्वरकृत होने के विश्वासी हैं उनका ऐसा सोचना असंगत नहीं था कि ऐसी मनःस्थिति में शूद्र सेवाधर्म का पालन नहीं कर सकता। गीता और मानस की मान्यताओं में इस दिशा में सर्वथा साम्य होते हुए भी मानस की पंक्तियाँ तत्कालीन समस्या का प्रतिनिधित्व करती हैं। पुनर्जन्मवाद और सामाजिक आवश्यकता दोनों ही इस प्रकार की धारणा को पुष्ट करती हैं।

बहुधा सामाजिक व्यवस्था के संरक्षण में बहुत कुछ ऐसा होता है जिसे न्याय और सौहार्दपूर्ण नहीं माना जा सकता। एक ही शासनतन्त्र के अन्तर्गत काम करनेवाले वर्णों की तुलना से भी यह स्पष्ट हो जाता है। शासन तन्त्र के एक विभाग के अधिकारी और कार्यकर्ता को जहाँ हम वातानुकूलित कक्ष में कार्य करते हुए देखते हैं वहाँ उसी शासनतन्त्र का सुरक्षा सैनिक ऐसी परिस्थितियों में रहने के लिए बाध्य किया जाता है जहाँ प्रकृति अपने उग्र रूप में विद्यमान होती है। राजधानी के भव्य भवनों में कार्य करनेवाले और हिमाञ्चल की सीमा पर घोर शीत और हिम में रहनेवाले सैनिक का जीवन इसी वैषम्य को प्रगट करता है। किसी भी सहृदय व्यक्ति को यह स्थिति कचोटती है पर कोई भी व्यवस्था इस स्थिति

में पूरा परिवर्तन लाने में समर्थ नहीं हो सकती। यद्यपि यह तर्क किया जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति को यह स्वतन्त्रता है कि वह अपनी इच्छा के अनुकूल कार्य का चुनाव कर सके। अतः इसमें अन्याय का प्रश्न नहीं आता किन्तु यह तर्क भी पूरी तरह सुसंगत नहीं है जिसे हम स्वेच्छा कह कर सन्तुष्ट हो लेते हैं—उसके पीछे भी अधिकांश व्यक्तियों की बाध्यताएँ ही होती हैं। फिर भी ऐसे अवसर आते हैं जब व्यक्ति राष्ट्र को अपनी इच्छा के अनुकूल चलने के लिए बाध्य करता है। अनिवार्य सैनिक सेवा को इसके दृष्टान्त के रूप में रक्खा जा सकता है। ऐसी स्थिति में देश और आदर्श के रक्षा की दुहाई देकर जैसे बलिदान को आशा की जाती है वैसे ही कभी 'स्वधर्म' के नाम पर भी कभी समाज के अनेक वर्गों को कष्ट सहन करने की प्रेरणा दी जाती थी। वह सहृदयता की दृष्टि से अन्याय भले ही प्रतीत हो पर वह ऐसी बाध्यता है कि जिससे पूरी निष्कृति कभी सम्भव नहीं है। हाँ उसे ऐसा रूप दिया जा सकता है कि वह आरोपित अन्याय जैसी न लगे। किन्तु यह तो इस प्रश्न पर वर्तमान युग सन्दर्भ में दिया जाने वाला उत्तर है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि श्रीकृष्ण स्वयं को ही वर्ण धर्म का निर्माता स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में तो इसमें अन्याय और अनौचित्य का प्रश्न ही नहीं है। हिन्दू धर्म पुनर्जन्म-वादी है और उसकी दृष्टि में ब्राह्मण वर्ण का कितना भी महत्व क्यों न हो वह उसे कहीं यह आश्वासन नहीं देता कि स्वधर्म का परित्याग करने पर वह निम्न वर्णों में जन्म नहीं ले सकता। अतः एक ओर जहाँ ब्राह्मण दुष्कर्म के प्रभाव से शूद्र बन सकता है वहाँ शूद्र भी 'स्वधर्म' का पालन करता हुआ द्विज वर्ण में जन्म ले सकता है। अतः कर्म चक्र किसी के प्रति पक्षपात नहीं करता इसलिए उसका यह आग्रह है कि शूद्र को भी 'स्वधर्म' का ही पालन करना चाहिए। इस मान्यता में गीता और मानस का समान दृष्टिकोण है।

कर्म जीवन की बाध्यता है किन्तु प्रत्येक कर्म व्यक्ति के जीवन में बन्धन की सृष्टि करता है। इस कर्म बन्धन से मुक्त होने के लिए भगवान श्रीकृष्ण गीता में यज्ञ कर्म का आदेश देते हैं—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥

अर्थात् 'यज्ञ के निमित्त किए जानेवाले कर्मों को छोड़कर अन्य कर्मों लगा हुआ मनुष्य कर्मों से बंधता है। इसलिए हे अर्जुन तू आसक्ति से रहित

होकर यज्ञ के निमित्त ही कर्म कर।' यह यज्ञकर्म क्या है? गीता में यज्ञ-कर्म की व्यापकता का संकेत विविध प्रकार के यज्ञों का उल्लेख करते हुए किया गया है। "यज्ञ" शब्द का प्रयोग करते ही व्यक्ति के मनश्चक्षुओं के समक्ष यज्ञकुण्ड और आहुति का चित्र आ जाता है। किन्तु भगवान श्रीकृष्ण यज्ञ शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थों में करते हैं। विविध प्रकार के यज्ञों का उल्लेख करते हुए वे जिस शब्दावली का प्रयोग करते हैं उसका तात्पर्य ही यही है कि वे जीवन की प्रत्येक क्रिया को ही यज्ञकर्म के रूप में परिणित करने का आदेश देते हैं—

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥

उपरोक्त श्लोक में द्रव्ययज्ञ, तपयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याय यज्ञ तथा ज्ञान यज्ञ के उल्लेख का तात्पर्य ही यज्ञ को व्यापकता की ओर इंगित करना है। फिर भी यज्ञ शब्द के पीछे निहित तात्पर्य को हृदयंगम करने के लिए कर्मकाण्डमूलक प्रक्रिया से सम्पन्न होनेवाले यज्ञ की प्रणाली ही सर्वश्रेष्ठ माध्यम है। इसीलिए गीता में यज्ञों की विविधता वर्णन करते हुए अग्नि और आहुति को ही प्रतीक रूप में चुना गया है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्म कर्म समाधिना॥२४॥
दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥२५॥
श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥२६॥
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥२७॥
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥२८॥
अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायाम परायणाः॥२९॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपित कल्मषाः॥३०॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥३१॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्राह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

उन यज्ञ के लिए आचरण करनेवाले पुरुषों में से कोई तो इस भाव से यज्ञ करते हैं कि अर्पण अर्थात् स्रुवादिक (भी) ब्रह्म है (और) हवि अर्थात् हवन करने योग्य द्रव्य (भी) ब्रह्म है (और) ब्रह्म रूप अग्नि में ब्रह्म रूप कर्ता द्वारा जो हवन किया गया है (वह भी ब्रह्म ही है इसलिए) ब्रह्म रूप कर्म में समाधिस्थ हुए उस पुरुष द्वारा (जो) प्राप्त होने योग्य है (वह भी) ब्रह्म ही है ॥२४॥ और दूसरे योगी जन देवताओं के पूजन रूप यज्ञ को ही अच्छी प्रकार उपासते हैं अर्थात् करते हैं (और) दूसरे (ज्ञानीजन) परब्रह्म परमात्मा रूप अग्नि में यज्ञ के द्वारा ही यज्ञ को हवन करते हैं ॥२५॥ और अन्य योगीजन श्रोत्रादिक सब इन्द्रियों को संयम अर्थात् स्वाधीनता रूप अग्नि में हवन करते हैं अर्थात् इन्द्रियों को विषयों से रोक कर अपने वश में कर लेते हैं और दूसरे योगी लोग शब्दादिक विषयों को इन्द्रिय रूप अग्नि में हवन करते हैं अर्थात् राग द्वेष रहित—इन्द्रियों द्वारा विषयों को ग्रहण करते हुए भी भस्म रूप करते हैं ॥२६॥ और दूसरे योगी-जन सम्पूर्ण इन्द्रियों की चेष्टाओं को तथा प्राणों के व्यापार को ज्ञान से प्रकाशित हुई परमात्मा में स्थित रूप योगाग्नि में हवन करते हैं ॥२७॥ और दूसरे (कई पुरुष) ईश्वर अर्पण बुद्धि से लोक सेवा में द्रव्य लगाने-वाले हैं वैसे ही (कई पुरुष) स्वधर्म पालन रूप तप यज्ञ को करनेवाले हैं, (और कई) अष्टांग योग रूप यज्ञ को करनेवाले हैं और दूसरे अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतों से युक्त यत्नशील पुरुष भगवान के नाम का जप तथा भगवत् प्राप्त विषयक शास्त्रों का अध्ययन रूप ज्ञानयज्ञ के करनेवाले हैं ॥२८॥ और दूसरे योगीजन अपान वायु में—प्राण वायु को हवन करते हैं वैसे ही (अन्य योगीजन) प्राण वायु में अपान वायु को हवन करते हैं (तथा) अन्य योगी जन प्राण और अपान की गति को रोक कर प्राणायाम के परायण (होते हैं) ॥२९॥ और दूसरे— नियमित आहार करनेवाले प्राणों को प्राणों में ही हवन करते हैं। (इस प्रकार) यज्ञों द्वारा नाश हो गया है पाप जिनका (ऐसे) यह सब ही (पुरुष) यज्ञों को जाननेवाले हैं ॥३०॥ और हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन यज्ञों के परिणाम रूप ज्ञानामृत को भोगने वाले योगीजन सनातन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं और यज्ञरहित पुरुष को यह मनुष्य-लोक (भी सुखदायक) नहीं है फिर परलोक कैसे (सुखदायक) होगा ॥३१॥ ऐसे बहुत प्रकार के यज्ञ वेद की वाणी में विस्तार किए गए हैं। उन सबको

शरीर मन और इन्द्रियों की क्रिया द्वारा ही होनेवाले जान। इस प्रकार—(तत्व से) जानकर (निष्काम कर्मयोग द्वारा) संसार बन्धन से मुक्त हो जाएगा ॥३२॥

अग्नि और आहुति का प्रतीकात्मक तात्पर्य क्या है ? बहिरंग दृष्टि से देखने पर अग्नि में डाली जानेवाली आहुति पूरी तरह जल कर नष्ट हो जाती है। दूसरी ओर आहुति में प्रयुक्त होनेवाले अन्न को यदि भूमि में डाला जाय तो वह अन्न अंकुरित और फलित होकर बोनेवाले को कई गुना होकर प्राप्त होता है। किसान इसी प्रक्रिया से अन्न प्राप्त करता है। ऐसी स्थिति में ऐसा सोचना स्वाभाविक है कि क्यों न हम भूमि से ही अन्न प्राप्त करें। अग्नि में आहुति डालकर अन्न को जलाकर नष्ट करना सर्वथा अविवेक का कार्य है। किन्तु गीता का आग्रह है कि भूमि से अन्न प्राप्त करने के लिए भी यज्ञ की अपेक्षा है। भूमि से अन्न प्राप्त होता हुआ दिखाई देता है, पर उस प्रक्रिया में प्रकृति के अन्य रूपों की सहायता भी अपेक्षित है। यदि मेघ के द्वारा जल की वर्षा न हो तो भूमि से कई गुना अन्न तो प्राप्त करना दूर, मूल का लौटाना भी असम्भव है। श्रीकृष्ण कहते हैं 'यज्ञ से मेघ का निर्माण होता है और उससे वर्षा होती है तभी अन्न प्राप्त होता है इसलिए यज्ञ की आवश्यकता होती है'—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥

भूमि और जल की सहायता से अन्न की उपलब्धि को तो हम प्रत्यक्ष देख सकते हैं, पर यज्ञ के द्वारा मेघ का निर्माण होता है यह शुद्ध श्रद्धा और भावना का ही विषय हो सकता है। प्रकृति में मेघ निर्माण की प्रक्रिया भी भिन्न रूप में परिलक्षित होती है। सूर्य की किरणों के द्वारा शोषित होकर समुद्र का जल मेघ के रूप में परिवर्तित होकर आकाश में छा जाता है। वायु के द्वारा आकाश-मार्ग से मेघ हम तक पहुँच कर जल की वर्षा करते हैं। अतः इतना तो प्रत्यक्ष ही है कि भूमि के द्वारा अन्नोत्पादन की प्रक्रिया में भी पंचभूतों का सहयोग अपेक्षित है। भौतिकवादी प्रकृति को जड़ रूप में देख कर उस पर अधिकार करने का प्रयास करता है। आध्यात्मिक दृष्टि से प्रत्येक जड़ पदार्थ में चैतन्य तत्त्व विद्यमान है। पदार्थ को सक्रिय करनेवाला चेतन ही उसकी दृष्टि में देवता है। अतः वह प्रकृति के विभिन्न अंगों के स्वामी देवताओं की प्रार्थना करता है कि वे उसे अभीष्ट वस्तु प्रदान करें।

श्रीकृष्ण यही आदेश देते हैं कि यज्ञ के द्वारा यजन करने पर देवता व्यक्ति की समस्त कामनाओं को पूर्ण करते हैं और इस तरह परस्पर एक दूसरे को सन्तुष्ट करते हुए परम श्रेय को प्रापक करें—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥

यद्यपि तार्किक दृष्टि से इसके विरुद्ध भी अनेक तर्क किए जा सकते हैं। क्या यज्ञ के अभाव में मेघ जल की वर्षा नहीं करेंगे ? क्या जिन देशों में यज्ञ नहीं होता, वहाँ जल की वर्षा नहीं होती ? वैज्ञानिक साधनों से भी जल पाया जा सकता है । फिर क्या आवश्यकता है कि हम देवताओं की प्रार्थना करने जायें ? वस्तुतः यज्ञ रहित समाज कभी सम्भव ही नहीं है। अग्निकुण्ड में वेद की ऋचाओं के माध्यम से यज्ञ भले ही न हो पर यज्ञों की विस्तृत नामावली पर दृष्टि डालते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी न किसी प्रकार यज्ञ तो व्यक्ति और समाज में चलता ही रहता है। यज्ञ तो आदान-प्रदान की प्रक्रिया है। एक पुत्र द्वारा पिता की सेवा न किए जाने पर भी पिता तो अपने कर्तव्य का पालन करता ही है। किन्तु ऐसे पुत्र की समाज में प्रत्येक व्यक्ति निन्दा करता ही है। प्रत्येक व्यक्ति में यह आकांक्षा स्वाभाविक रूप में विद्यमान रहती है कि वह जिन लोगों के लिए कुछ करता है बदले में वह भी उसका प्रतिदान दे। अतः देवताओं की आराधना न किए जाने पर भी देवशक्तियाँ अपनी ओर से अपने कर्तव्य का निर्वाह करती हैं। पर यह व्यक्ति और समाज के लिए सर्वथा लज्जास्पद है कि वह किसी से निरन्तर दान ग्रहण करता हुआ भी उसके प्रति कृतज्ञ न बने।

प्रकृति को जड़ मानकर उसे अपनी इच्छा के अनुकूल चलाने की प्रवृत्ति को पौराणिक दृष्टि से हम आसुरी प्रवृत्ति कह सकते हैं। पुराणों में जिन शक्तिशाली दैत्य और राक्षसों का वर्णन किया गया है उन सबमें यह प्रवृत्ति समान रूप से विद्यमान थी। हिरण्यकशिपु और रावण प्रकृति के समस्त स्तरों पर अधिकार कर उन्हें अपनी इच्छा के अनुकूल चलाने में समर्थ हो जाते हैं। श्रीमद्भागवत और रामचरितमानस में इसका बड़ा ही आकर्षक वर्णन प्राप्त होता है।

रामचरितमानस और कवितावली रामायण में भी इसका कवित्त्वपूर्ण वर्णन उपलब्ध होता है। रावण की वाटिका में पवन देवता भयभीत

होकर चलते हैं। उन्हें भय लगता है कि कहीं रावण क्रुद्ध हो दण्डित न करे—

बासव-बरुन-विधि बनतें सुहावनो
दसानन को काननु बसंत को सिंगारु सो।
समय पुराने पात परत, डरत बातु
पालत लालत रति मारको बिहारु सो॥
देख बर बापिका तड़ाग बाग को बनाउ,
राग बस भो बिरागी पवन कुमारु सो।
सीय की दसा बिलोकि बिटप असोक तर,
'तुलसी' बिलोक्यो सो तिलोक-सोक-सारु सो॥

× × ×

माली मेघ माल, बनपाल बिकराल भट,
नीकें सब काल सींचें सुधासार नीर के।
मेघनाद तें दुलारो, प्रान ते पिआरो बागु,
अति अनुरागु जियँ जातुधान धीर कें॥
'तुलसी' सो जानि सुनि, सीय को दरसु पाइ,
पैठो बाटिकाँ बजाइ बल रघुबीर कें।
विद्यमान देखत दसानन को काननु सो
तहस-नहस कियो साहसी समीर कें॥

रावण सूर्य, चन्द्रमा, पवन, वरुण, अग्नि, यम आदि सभी को अपनी इच्छा के अनुकूल चलाने में समर्थ है। प्रत्येक भौतिकवादी विज्ञानवेत्ता इसी दिशा में सक्रिय है। जिन बुद्धिवादियों को यह भ्रान्ति है कि आदिम काल में अविकसित मनुष्य ही प्रकृति से भयभीत होकर उनकी देवताओं के रूप में प्रार्थना करने लगा उन्होंने पौराणिक दर्शन के प्रति उचित न्याय नहीं किया है। पुराणों में जिस व्यापक इतिहास का उल्लेख किया गया है उसके अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल से ही दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ विद्यमान थीं। प्राचीन काल में भी ऐसे व्यक्ति विद्यमान थे जिन्होंने विशेष काल की सीमाओं में प्रकृति पर अधिकार का दावा किया। उनका दावा यथार्थ जान पड़ा। पर कभी न कभी उनकी धारणा का मिथ्यात्त्व सामने आया। जलती हुई लंका को रावण मेघ वर्षण के माध्यम से बुझाना चाहता है, पर वह असमर्थ हो जाता है।

श्रीकृ जल, वायु पर अधिकार का उसका दावा मिथ्या सिद्ध होता है। व्यक्ति ... त आज भी समान रूप से कही जा सकती है। रावण जिसे हनुमान की पूँछ को जलाने का साधन समझ रहा था वह लंका के विनाश का प्रबन्ध था। विज्ञान ने शक्ति के अनेक केन्द्रों को विकसित कर उन्हें अपनी इच्छा के अनुकूल चलाने का दावा किया है पर कौन नहीं जानता कि महाविनाश की आशंका आज सबके अन्तर में उमड़ रही है और जब कभी विश्व का विनाश होगा तब वह विज्ञान की आत्म-हत्या का सबसे बड़ा दृष्टान्त होगा।

आध्यात्मवादी प्रकृति पर अधिकार का दावा नहीं करता, वह उससे प्रार्थनापूर्वक प्रसाद प्राप्त करता है। वह उसकी प्रदत्त शक्तियों का सदुपयोग करता है। इसलिए उसकी देवाराधना यज्ञमूलक है। जिन्हें प्रार्थना और यज्ञ में हीनता का बोध होता है उनके लिए दैत्य परम्परा का मार्ग खुला हुआ है।

अग्नि में आहुति देने की प्रक्रिया कर्मकाण्ड की विधि के साथ-साथ हमारे सामाजिक दर्शन का एक प्रतीक भी है। जब एक किसान भूमि में अन्न डालता है तब उस पृथ्वी से उत्पन्न अन्न पर भी उसका ही अधिकार होता है। किन्तु अग्नि में आहुति डालने पर मेघ से जिस वर्षा की आशा की जाती है वह केवल आहुति देनेवाले के खेत में ही न होकर, सर्वत्न होती है। इसका तात्पर्य यह है कि कुछ कार्य ऐसे होते हैं कि जिनमें हमारी दृष्टि व्यक्तिगत लाभ की ही होती है। किन्तु जब तक अपने स्वार्थ को हम सामाजिक हित से सम्बद्ध नहीं बना लेते तब तक उसे हम यज्ञ भावना विहीन कर्म के रूप में ही देख सकते हैं और ऐसा कर्म परस्पर संघर्ष और द्वेष की प्रवृत्तियों को ही प्रोत्साहित कर सकता है। इस तरह यज्ञ अपने व्यापक अर्थों में न केवल देवताओं से हमारे सम्बन्ध को संहिताबद्ध करता है, अपितु सामाजिक सौहार्द में भी उसकी महत्त्व-पूर्ण भूमिका है।

गीता में यज्ञतत्त्व को सूत्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है। राम-चरितमानस के विविध प्रसंगों में यज्ञतत्त्व की विस्तृत व्याख्या प्राप्त होती है। मानस में सात प्रकार के यज्ञों का वर्णन किया गया है। इनमें तीन यज्ञों को सुरक्षा प्रदान की जाती है और तीन यज्ञ ध्वंस कर दिए जाते हैं। राक्षसों के द्वारा यज्ञ ध्वंस किया जाता है, इसका संकेत तो मानस में प्राप्त होता ही है। किन्तु यहाँ जिन तीन यज्ञों के ध्वंस का

उल्लेख किया गया है उसका विलक्षण विरोधाभास यही है कि यह यज्ञ भगवान शिव और श्रीमद् राघवेन्द्र के आदेश से नष्ट किए जाते हैं। इसका स्पष्ट तात्पर्य यही है कि यज्ञ की कर्मकाण्डमूलक प्रक्रिया को ही मानस में यज्ञ के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है। मानस की दृष्टि में यज्ञ की सार्थकता तभी है जब उसके पीछे यज्ञ की भावना विद्यमान हो।

मानस में सर्वप्रथम दक्षयज्ञ का उल्लेख किया गया है। दक्ष प्रजापति महान् यज्ञ आयोजन करते हैं। इसमें भगवान शिव को छोड़कर सभी देवताओं को आमंत्रित किया जाता है। यज्ञ में सभी देवता सशरीर भाग लेते हैं। शिव को आमंत्रित नहीं किया गया था, इसलिए भगवान विष्णु और लोक-पितामह ब्रह्मा भी इस यज्ञ में भाग लेना उचित नहीं समझते। भृगु के आचार्यत्व में यज्ञ चल ही रहा था कि भगवती सती अनाहूत होने पर भी पिता दक्ष के यज्ञ में भाग लेने के लिए आ जाती हैं। यज्ञ में भगवान शिव को परम्परागत दिया जानेवाला बलिभाग भी अर्पित नहीं किया गया था। सती को इसमें अपमान की अनुभूति होती है और वे यज्ञमण्डप में ही स्वयं को योगाग्नि से दग्ध कर लेती हैं। क्रुद्ध शंकर के गणों ने यज्ञ विनष्ट करने की चेष्टा की। महर्षि भृगु ने अपने मंत्रबल से उन्हें परास्त कर दिया। देवाधिदेव रुद्र को जैसे ही यह समाचार प्राप्त होता है उन्होंने अपनी जटा से वीरभद्र को प्रगट कर उन्हें दक्षयज्ञ नष्ट करने का आदेश दिया। क्रुद्ध वीरभद्र ने यज्ञमण्डप को नष्ट कर दिया। आचार्य और उनके सहयोगियों को पीटा। तथा दक्ष का सिर काट कर अग्निकुण्ड में डाल दिया। भगवान शिव स्वयं यज्ञस्थल पर पधारते हैं। देवताओं की प्रार्थना से सन्तुष्ट होकर उन्होंने दक्ष के सिर पर बकरे का सिर जोड़कर उसे जीवन दान दिया। इस तरह ध्वंस के पश्चात् दक्षयज्ञ सम्पन्न हुआ।

उपरोक्त उपाख्यान का गहराई से अध्ययन करने पर यज्ञ के वास्तविक स्वरूप को हृदयंगम करना सरल प्रतीत होता है। सबसे महत्त्व का प्रथम तथ्य यह है कि इस यज्ञ के यजमान दक्ष हैं, जो ब्रह्मा के पुत्र और प्रजापति हैं। गीता में यज्ञकर्म के उपदेष्टा प्रजापति ब्रह्मा हैं, जिन्होंने 'प्रजा' को यज्ञ का उपदेश दिया—'सह यज्ञा प्रजा सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापति' अतः प्रथम दृष्टि में यही जान पड़ता है कि दक्ष पितृभक्त और आज्ञाकारी हैं, जिन्होंने यज्ञ का आयोजन करके पिता के आदेश को मूर्तिमान

करने का प्रयास किया। पर यज्ञ का ध्वंस कुछ दूसरी कहानी ही कह रहा है। दक्ष के जीवन की यह विचित्र विडम्बना है कि वे शिव के श्वसुर होते हुए भी उनसे द्वेष करते हैं। द्वेष का कारण है उनका मिथ्या 'अहंकार'। मानस में इसका बड़ा मनोवैज्ञानिक चित्र प्रस्तुत किया गया है। दक्ष अनेक कन्याओं के पिता थे। उन्होंने ब्रह्मा के आदेश से अपनी पुत्री सती को भगवान शिव को अर्पित किया था। पर बाद में उन्हें अपने इस निर्णय के औचित्य पर सन्देह हो गया। फिर भी वे अब कर ही क्या सकते थे। किन्तु यह भीतरी असन्तोष उस दिन विद्वेष बन बैठा जब प्रजापति चुने जाने के बाद वे ब्रह्मा की सभा में पधारे और सभी देवताओं ने उठकर उनका स्वागत किया। किन्तु भगवान शिव बैठे रहे। क्रुद्ध दक्ष स्वयं अपने को अपमानित अनुभव करते हुए महादेव पर बरस पड़ते हैं। भगवान महेश शान्त बने रहे।

दक्ष द्वारा किए जानेवाले यज्ञ का एक उद्देश्य शिव को अपमानित करना भी था। वस्तुतः दक्ष और शिव का संघर्ष सर्वथा व्यक्तिगत रहा हो ऐसी बात नहीं है। शिव और दक्ष की मनोवृत्ति एक दूसरे से पूरी तरह भिन्न है। दक्ष, प्रजापति हैं तो शिव, संहार के देवता हैं। जिसका उद्देश्य सृष्टि का विस्तार हो उसे संहारक अपना विरोधी जान पड़े यह स्वाभाविक ही था। यद्यपि सृष्टि के मूल रचयिता ब्रह्मा यह भली प्रकार समझते हैं कि सृजन और संहार एक दूसरे के पूरक हैं। पर दक्ष ब्रह्मा का पुत्र होते हुए भी इस सत्य को गले नहीं उतार पाता। शिव सामाजिक मर्यादाओं को स्वीकार नहीं करते। उनका आचार-विचार लोक भिन्न है। प्रजापति सभी को अनुशासन बद्ध देखना चाहता है। इसीलिए उसे शिव के व्यवहार में उच्छृंखलता का दर्शन होता है। उसे यही भय सताता रहता है कि इससे प्रजा में भी मर्यादा उल्लंघन की प्रवृत्ति जागृत होगी। दक्ष में जीवन के विराट स्वरूप को पहिचानने की क्षमता नहीं है। प्रजापति होकर उसका अभिमान अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच जाता है। मानस में भी उसके चरित्र पर यही टीका की गई है—

देखा बिधि बिचारि सब लायक।
दच्छहि कीन्ह प्रजापति नायक॥
बड़ अधिकार दच्छ जब पावा।
अति अभिमानु हृदयँ तब आवा॥

उसे लगता है जैसे सारी सृष्टि की व्यवस्था का भार उसी पर है।

यदि उसकी दृष्टि और व्यापकता पर जाती तो उसे इस मिथ्या व्यामोह से मुक्ति मिल जाती। अनादि, अनन्त भगवान महाकाल शिव की काल-परिधि में प्रजापति की तो कोई गणना ही नहीं है। वहाँ तो जाने कितने ब्रह्मा आते और चले जाते हैं। शिव के इस स्वरूप पर यदि दक्ष की दृष्टि गई होती तो वह उसके आगमन पर शिव के न खड़े होने को स्वयं का अपमान न मान बैठता। उसका तर्क तो यह रहा होगा कि यदि शिव, ब्रह्मा से न्यून न होते तो उनकी सभा में उनसे साधारण आसन पर कैसे बैठते। इस प्रक्रिया में भगवान शिव की जिस समत्त्व स्थिति का पता लगता है, दक्ष की दृष्टि इस पर नहीं जाती। समाज ने अपनी सुव्यवस्था के लिए भाषा क्रिया आदि के अनेक प्रतीकात्मक संकेत स्वीकार कर लिए। समाज का व्यवहार इन्हीं के आधार पर चलता भी है। किसी को देखकर उठ खड़े होना सम्मान है। इसका कोई तात्त्विक आधार नहीं है। कुछ संकेतों और क्रियाओं का व्यक्ति इतना अभ्यस्त हो जाता है कि उन्हें पूर्ण सत्य मानने की भूल कर बैठता है। शिव इन मिथ्या मान्यताओं पर प्रहार करते हैं।

जीवन की व्यापकता से अनभिज्ञ दक्ष मान्यताओं को ही पूर्ण सत्य मान बैठा है। प्रवृत्ति के प्रति उसकी तीव्र आसक्ति उसे निवृत्ति का विरोधी बना देती है। देवर्षि नारद के विरुद्ध भी वह इसीलिए क्रुद्ध हो उठता है कि उसके अनेक पुत्रों को उन्होंने निवृत्ति मार्ग की ओर प्रेरित कर दिया है। उसे लगता है सृष्टि का विस्तार करता हुआ वह पिता ब्रह्मा की आज्ञा का पालन कर रहा है। देवर्षि उसमें बाधक हैं। ऐसी कल्पना करते हुए वह यह भूल जाता है कि नारद भी ब्रह्मा के पुत्र हैं। ब्रह्मा यदि उन्हें गार्हस्थ्य की दिशा में प्रेरित नहीं करते तो इसका भी तात्पर्य यही है कि वे जीवन के द्वितीय पक्ष को कम महत्त्व नहीं देते। भगवान शिव प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही के समन्वित रूप हैं। एक ओर वे सती का पाणिग्रहण करते हैं तो दूसरी ओर अवसर आने पर उनके त्याग में भी उन्हें संकोच नहीं होता। उनमें आग्रह का अभाव है। उनके चरित्र में लौकिक मर्यादाओं का जो तिरस्कार बहुधा दिखाई देता है उसके मूल में उच्छृंखलता नहीं है। वे मर्यादा के नाम पर समाज में फैले दंभ पर प्रहार करते हैं। व्यक्ति जो वस्त्र धारण करता है वह उसकी मर्यादा का ही प्रतीक है। पर यही वस्त्र जब व्यक्ति की महत्ता का हेतु बन जाता है और उसके आधार पर व्यक्ति का मूल्य आँका जाने लगता

है तब वह समाज के दंभ का प्रतीक बन जाता है। शिव नग्न होकर वस्त्र को इतना महत्त्व देनेवालों का उपहास करते हुए से प्रतीत होते हैं। उनके प्रत्येक क्रियाकलाप में यही दृष्टिकोण है। दक्ष के जीवन में आग्रह, कामनाओं और दंभ का बाहुल्य है और उन्हीं को वह लोक संरक्षण और मर्यादा के रूप में देखता है। यज्ञ को भी वह कामनाओं की पूर्ति के माध्यम रूप में देखता है। ऐसे ही लोगों को गीता में 'वेदवादी' कह कर उनकी निन्दा की गई है। स्वयं श्रीकृष्ण 'यज्ञों' को कामधेनु कहते हैं। पर जो लोग इस यज्ञ की व्यापकता को नहीं पहिचानते, सकामता के अन्तराल में निष्कामता का जो तत्त्व छिपा हुआ है, उसे नहीं जानते उन्हें अल्पज्ञ कह कर उनकी आलोचना करते हैं।

●

यज्ञ में भगवान शिव का भाग वैदिक परम्परा में मान्य है। पर भगवान शिव को इस भाग से वंचित करके वह इस पद्धति में परिवर्तन करना चाहता है। इसमें वह आचार्य भृगु का सहयोग प्राप्त कर लेता है। यज्ञ में भगवान शिव को आमंत्रित न करना भी इसी योजना का एक भाग था। सभी देवताओं का मूक समर्थन भी इसे प्राप्त है। रुद्र की सारी रहनी देव परम्परा से भिन्न है। शिव का सारा क्रिया कलाप उन्हें अपना उपहास करता सा प्रतीत होता है। कुछ न कर पाने की असमर्थता ही उन्हें मूक बनाए हुए थी। दक्ष जैसे अभिमानी के रूप में उन्हें एक नेतृत्व प्राप्त होता है। अतः वे प्रसन्नतापूर्वक इस यज्ञ में भाग लेने के लिए चल पड़ते हैं। गोस्वामी जी उनकी मनोवृत्ति के प्रकटीकरण के लिए बड़े सार्थक शब्द का प्रयोग करते हैं—

बिष्नु बिरंचि महेस बिहाई।
चले सकल सुर जान बनाई॥

ब्रह्मा और विष्णु दक्ष के अविवेक को दृष्टिगत रखकर ही यज्ञ में भाग लेना अस्वीकार कर देते हैं। किन्तु इन दोनों के द्वारा कोई सक्रिय विरोध न होने से दक्ष को लगा कि वस्तुतः दिखावे के लिए ही दोनों नहीं आ रहे हैं। फिर उसे यह भी लगा होगा कि जहाँ सारा देव समाज

आ रहा है वहाँ तीन न सही। प्रजापति को अपने साथ बहुत के होने का गर्व है। उसके ध्यान में ही नहीं आता कि तीन के न आने का अर्थ क्या है? विष्णु यज्ञ पुरुष हैं। ब्रह्मा का दूसरा नाम है विधि। मानस की भाषा में भगवान शिव मूर्तिमान विश्वास हैं—

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्॥

विष्णु ही साध्य हैं। जिस यज्ञ में साध्य नहीं, साथ ही विधि और विश्वास का अभाव हो उसका ध्वंस होना स्वाभाविक है। आचार्य यजमान होता श्रुवा यज्ञकुण्ड और आहुति या मंत्र मात्र ही यज्ञ नहीं है। यह तो यज्ञ के उपकरण मात्र हैं। विवाह में भव्य मण्डप बनाया गया है। कलात्मक साज सज्जा की गई। बरात बड़ी शानदार थी। स्वागत भरपूर हुआ। पता चला सभी आ गए पर दूल्हा रूठ कर कहीं भाग गया। ऐसी ही उपहासास्पद स्थिति दक्ष यज्ञ की है। फिर भी विध्वंस के बाद दक्ष का यज्ञ भगवान शिव की कृपा से पूर्ण होता है। समाज में दक्षता या बुद्धिमत्ता का समग्र विनाश हो जाय यह रुद्र को भी अभीष्ट न था। वीरभद्र ने भी केवल दक्ष का सिर ही यज्ञकुण्ड में डाल दिया था। यह यज्ञ की वास्तविक पूर्णाहुति थी। यज्ञ की समग्रता 'अहं' की आहुति देकर अभिमान शून्य हो जाने में है। दक्ष को अपनी बुद्धि का तीव्र अभिमान था। वीरभद्र ने सिर के माध्यम से उसे नष्ट कर दिया। दक्ष के सिर पर बकरे का सिर जोड़कर उन्हें महादेव ने पुनः जीवन दान दिया। पशु परबस है उसमें स्वतंत्र बुद्धि का अभाव है। जीव में भी विश्वास का उदय तभी होता है जब वह ईश्वर की परतंत्रता स्वीकार करे। 'परबस जीव स्वबस भगवन्ता'। दक्ष ने बाद में भगवान रुद्र की स्तुति के माध्यम से अपने अपराध का परिमार्जन किया। आचार्य और देवताओं के भी विभिन्न अंग नष्ट किए गए थे। उन्हें भी अंगों के सदुपयोग के लिए अन्य अंग प्रदान किए गए। यज्ञ के माध्यम से जिन देवताओं की आराधना की जाती है वे भी वस्तुतः पूर्ण नहीं हैं। इस उपाख्यान के माध्यम से भी इसकी ओर इंगित किया गया। इसलिए गीता में एक ओर तो यज्ञ की प्रशंसा की गई। पर दूसरी ओर सकामता को ही सब कुछ माननेवाले वेदवादियों की निन्दा की गई। साथ ही कर्ममय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ की अधिक प्रशंसा की गई—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।।

दक्षयज्ञ की ही भाँति रावण और मेघनाद के यज्ञों के ध्वंस की गाथा भी मानस में प्राप्त होती है। इन यज्ञों के ध्वंस का आदेश भी यज्ञ रक्षक भगवान राम के द्वारा दिया जाना अद्भुत सा प्रतीत होता है। किन्तु इन दोनों यज्ञों के मूल में दक्षयज्ञ की अपेक्षा भी विकृत उद्देश्य विद्यमान था। दक्ष के यज्ञ का उद्देश्य केवल अहं का प्रदर्शन और भगवान शिव द्वारा किए गए कल्पित अभिमान का बदला लेना था। किन्तु रावण और मेघनाद तो यज्ञ के माध्यम से यज्ञपुरुष भगवान को ही विनष्ट करने पर तुले हुए थे। रावण और मेघनाद का यज्ञ विधिपूर्वक किया जा रहा था। दोनों को ही यज्ञ की क्षमता पर विश्वास था। यहाँ यह ध्यान रखने योग्य तथ्य है कि रावण और मेघनाद के द्वारा दूसरों का यज्ञ नष्ट करने के पीछे भी यही प्रगाढ़ विश्वास विद्यमान था। वे नहीं चाहते थे कि यज्ञ के द्वारा अन्य लोग भी शक्ति प्राप्त करें। साथ ही उसकी यह भी दृढ़ मान्यता थी कि विधिपूर्वक किए जानेवाले यज्ञभाग को ग्रहण करने के लिए देव शक्तियाँ बाध्य हैं। भले ही उनके पीछे कितनी ही विकृत भावना कार्य कर रही हो। उसकी दृष्टि में यज्ञ कर्मकाण्ड की एक प्रक्रिया है। इसमें भावना का कोई महत्त्व नहीं है। उसकी दृष्टि में देवता एक ऐसे व्यापारी की भाँति हैं, जिनसे द्रव्य के बदले में पदार्थ प्राप्त किए जा सकते हैं। दैत्यों की इस मनोवृत्ति की तुलना उस डाकू-दल से की जा सकती है जो किसी शस्त्र-विक्रेता से शस्त्र खरीद कर रात्रि को उस व्यापारी को उन्हीं से लूटने की योजना बना रहा हो।

सृष्टि के प्रत्येक क्रिया कलाप में विधि और पुरुषार्थ के महत्त्व को स्वीकार करना ही होगा। पदार्थ के सृजन की पद्धति का सही परिज्ञान प्राप्त कर लेना ही भौतिक विज्ञान का उद्देश्य है। किन्तु इस प्रक्रिया का ज्ञान जब किसी ऐसे व्यक्ति को हो जाता है जिसे उसके दुरुपयोग में किसी प्रकार के संकोच का अनुभव न होता हो तब समाज के लिए ऐसा ज्ञान भय और संहार का हेतु बन सकता है। आधुनिक भौतिक विज्ञान के सन्दर्भ में यह सत्य समाज के समक्ष और भी अधिक मुखर हो उठा है। आधुनिक भौतिकवादी वैज्ञानिकों ने पदार्थों के परीक्षण के द्वारा उनमें छिपी हुई शक्तियों का पता लगाया है। प्राचीन पुराण काल के दैत्य और राक्षस भी भौतिकवादी ही थे। किन्तु उनकी शोध का केन्द्र पदार्थ न

होकर मन्त्र और तपजन्य सिद्धियाँ थीं। ठीक भौतिकवादियों की ही भाँति वे भी शक्ति का मनमाना उपयोग करना चाहते थे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मन्त्र, तप और देवताओं की स्वीकृति ही आध्यात्मवादी होने के लिए यथेष्ट नहीं है। हिरण्यकशिपु, रावण आदि सभी दैत्य उग्र तपस्या के द्वारा विभिन्न क्षमताओं का अधिकार प्राप्त करते हैं। यज्ञ के प्रति भी उनका यही दृष्टिकोण है। सम्भवतः उनके यज्ञ में भावना के स्थान पर क्रिया की ही प्रधानता है। श्रीकृष्ण ने ऐसे यज्ञों की 'क्रिया-विशेष बहुलाम्' कहकर उनकी आलोचना की है। भगवान राम बन्दरों को ऐसे यज्ञ के ध्वंस की आज्ञा देकर यज्ञ के क्रिया पक्ष के स्थान पर भाव पक्ष को ही अधिक महत्त्व देते हैं। बन्दरों को मानस में देवताओं के अंश से उद्भूत व्यक्तियों के रूप में चित्रित किया गया है—

निज लोकहि बिरंचि गे देवन्ह इहइ सिखाइ।
बानर तनु धरि धरि महि हरि पद सेवहु जाइ॥

देवता यदि विधि की मर्यादा के नाते रावण के दुर्भाव से परिचित होते हुए भी उसके यज्ञ में भाग लेने के लिए बाध्य थे तो वानरों के समक्ष इस प्रकार की कोई बाध्यता न थी। अंगद ने रावण के ऊपर प्रहार करते हुए उसके ध्यान के लिए 'बक ध्यान' शब्द का प्रयोग किया—

रन ते निलज भाजि गृह आवा।
इहाँ आइ बकध्यान लगावा॥

भौतिकवादी जब ईश्वर की रचित मर्यादा का उल्लंघन करता है तब उसकी अत्यधिक चातुरी ही उसके सर्वनाश का हेतु बन जाती है। मेघनाद निकुम्भिला के एकान्त स्थल में युद्ध छोड़कर इसीलिए यज्ञ में संलग्न होता है कि वह यज्ञ के माध्यम से शक्ति प्राप्त कर श्रीराम को युद्ध में परास्त कर सके। ऐसी स्थिति में उसे समग्र विधि की रक्षा के लिए निश्चल भाव से आसन पर बैठना था। श्री लक्ष्मण के सेनापतित्व में बन्दरों ने निकुम्भिला पर आक्रमण किया। बन्दरों के द्वारा यज्ञस्थल ध्वंस किए जाने पर भी वह कुछ समय तक धैर्य धारण किए बैठा रहा। किन्तु इसके कुछ क्षण बाद ही ऐसा अवसर आया जब वह अधीर होकर आसन से उठ खड़ा हुआ श्री लक्ष्मण से युद्ध करता हुआ यज्ञस्थली में ही मारा गया—

जाइ कपिन्ह सो देखा बैसा।
आहुति देत रुधिर अरु भैंसा॥
कीन्ह कपिन्ह सब जग्य बिधंसा।
जब न उठइ तब करहिं प्रसंसा॥
तदपि न उठइ धरेन्हि कच जाई।
लातन्हि हति हति चले पराई॥
लै त्रिसूल धावा कपि भागे।
आए जहँ रामानुज आगे॥
आवा परम क्रोध कर मारा।
गर्ज घोर रव बारहिं बारा॥
कोपि मरुतसुत अंगद धाए।
हति त्रिसूल उर धरनि गिराए॥
प्रभु कहँ छाँड़ेसि सूल प्रचंडा।
सर हति कृत अनंत जुग खंडा॥
उठि बहोरि मारुति जुबराजा।
हतहिं कोपि तेहि घाउ न बाजा॥
फिरे बीर रिपु मरइ न मारा।
तब धावा करि घोर चिकारा॥
आवत देखि क्रुद्ध जनु काला।
लछिमन छाड़े बिसिख कराला॥
देखेसि आवत पबि सम बाना।
तुरत भयउ खल अंतरधाना॥
बिबिध बेष धरि करइ लराई।
कबहुँक प्रगट कबहुँ दुरि जाई॥
देखि अजय रिपु डरपे कीसा।
परम क्रुद्ध तब भयउ अहीसा॥
लछिमन मन अस मंत्र दृढ़ावा।
एहि पापिहि मैं बहुत खेलावा॥
सुमिरि कोसलाधीस प्रतापा।
सर संधान कीन्ह करि दापा॥
छाड़ा बान माझ उर लागा।
मरती बार कपटु सब त्यागा॥

विधिमूलक यज्ञ की यह स्वाभाविक परिणति है। जहाँ भावना का अभाव और केवल यज्ञ विधि ही सिद्धि का हेतु हो वहाँ पर यज्ञ विधि से रंचमात्र त्रुटि भी यजमान के विनाश का हेतु बन जाती है। भावना प्रधान यज्ञ में विधिमूलक त्रुटि होने पर भी देवता उसे उदारतापूर्वक क्षमा कर देता है। यह ऐसा सार्वकालिक सत्य है जिसे व्यक्ति किसी भी देश और काल के सन्दर्भ में अनुभव कर सकता है। यदि वैज्ञानिक, अणु विस्फोट के द्वारा शक्ति के प्रकटीकरण की प्रक्रिया में संलग्न है तो क्षण भर का प्रमाद उसे मृत्यु के मुख में ढकेल सकता है। दूसरी ओर एक नन्हा बालक जब माँ से किसी वस्तु की याचना करता है तब माँ उसके उच्चारण की क्षमता और योग्यता पर ध्यान न देकर अपने वात्सल्य से ही उसे वस्तु प्रदान करती है। माँ और बालक के सम्बन्ध में भावना की मुख्यता है। अणु में भी मातृरूपा महाशक्ति की सत्ता ही विद्यमान है। फिर भी भौतिकवादी की दृष्टि में वह माँ न होकर केवल ऊर्जा का केन्द्र है, जिसे वह प्रक्रिया विशेष के माध्यम से प्रकट करना चाहता है। ऐसी स्थिति में अणुशक्ति के द्वारा क्षमा का प्रश्न ही नहीं उठता।

वैदिक कर्मकाण्ड की विधिमूलक प्रक्रिया के साथ-साथ उपासना और ज्ञान के समन्वय से ही उस उद्देश्य की सिद्धि हो सकती है। गीता में श्री-कृष्ण ने यज्ञ कर्म के माध्यम से जिसकी ओर इंगित किया है किन्तु यदि उसका उपयोग केवल कामनाओं की पूर्ति के लिए ही किया जाय अथवा दैत्यों की भाँति उसका दुरुपयोग किया जाय तब ऐसी स्थिति में उससे किसी श्रेष्ठ परिणाम की आशा नहीं की जा सकती है।

रामचरितमानस में यज्ञ प्रक्रिया के क्रमिक विकास का अच्छा परिचय प्राप्त होता है। सकाम यज्ञ को उचित दिशा निर्देशन में किस प्रकार लोक मंगल के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है इसका सर्वोत्कृष्ट दृष्टान्त महाराज श्री दशरथ के द्वारा किया जानेवाला पुत्रेष्टि यज्ञ है। दशरथ वृद्धावस्था के सन्निकट पहुँचकर भी जब राज्य के उत्तराधिकारी को जन्म नहीं दे पाते तब वे निराश होकर अपने कुलगुरु वशिष्ठ की शरण में जाते हैं। इसके पहले वे सभी भौतिक उपायों के द्वारा पुत्र प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। एक के पश्चात् दूसरे विवाह के द्वारा वे इसी उद्देश्य की सिद्धि में संलग्न थे। सारे भौतिक प्रयासों के पश्चात् दैविक क्षमता से सम्पन्न वशिष्ठ का आश्रय लेना स्वाभाविक ही था। सम्भव था कि गुरु वशिष्ठ उन्हें पुत्रैषणा से ऊपर उठने की प्रेरणा देते किन्तु

गुरुदेव मानव मन के अद्‌भुत पारखी थे। वे जानते थे कि सकामता और निष्कामता के बीच एक ऐसा भी केन्द्र है जहाँ से व्यक्ति कामनाओं की पूर्ति करता हुआ भी निष्कामता की दिशा में अग्रसर होता है। पुत्रैषणा व्यक्ति की स्वाभाविक आकांक्षा है। स्वयं को जीवित रखने की आकांक्षा ही इसके पीछे विद्यमान है। विचार की दृष्टि से आत्मा नित्य है उसका कभी विनाश नहीं होता। स्वयं को आत्मतत्व समझ लेने के पश्चात् इस प्रकार की आकांक्षाओं का मिट जाना सहज है किन्तु प्रश्न तो शरीर के प्रति आसक्ति का है। स्वयं को शरीर से एकाकार माननेवाला व्यक्ति त्रिविध ईषणाओं से ऊपर नहीं उठ सकता किन्तु शरीर को जीव-तत्व से अभिन्न मान लेना अज्ञान का परिचायक तो है ही इसके द्वारा व्यवहारिक और पारमार्थिक अनेक समस्यायें उठ खड़ी होती हैं। शरीर के प्रति यह आसक्ति ही व्यक्ति के बन्धन का कारण बन जाती है। संसार में लाखों बालकों को देखकर उसके मन में सहज स्नेह और वात्सल्य का उदय नहीं होता है। ऐसी स्थिति में पक्षपात की यह भावना अन्यों के प्रति उपेक्षा और घृणा का रूप धारण कर सकती है। अपने और पराए का यह भेद संघर्ष के माध्यम से जीवन को विषाक्त बना देता है। किन्तु इससे ऊपर उठ पाना भी सहज नहीं है। ऐसी स्थिति में शास्त्र और गुरु चतुर चिकित्सक की भाँति मानवीय दुर्बलताओं को सही दिशा में मोड़ने की चेष्टा करता है। गुरु वशिष्ठ ने महाराज श्री दशरथ को पुत्रेष्टि यज्ञ का आदेश देकर यही कुछ करने का प्रयास किया।

महर्षि विश्वामित्र भी अरण्य में रहकर यज्ञों का अनुष्ठान करते रहते हैं। उनका यज्ञ सर्वथा निष्काम है किन्तु राक्षस उन यज्ञों को विनष्ट करने पर तुले हैं—

> **बिस्वामित्र महामुनि ग्यानी।**
> **बसहिं बिपिन सुभ आश्रम जानी॥**
> **जहँ जप जग्य जोग मुनि करहीं।**
> **अति मारीच सुबाहुहि डरहीं॥**
> **देखत जग्य निसाचर धावहिं।**
> **करहिं उपद्रव मुनि दुख पावहिं॥**

महर्षि को यज्ञ संरक्षण के लिए भगवान की आवश्यकता है। उन्हें समाधि में ज्ञात होता है कि ईश्वर का अवतार दशरथ के घर में हो चुका है। वे उन्हें पाने के लिए अयोध्या जाते हैं। यही वह केन्द्र बिन्दु

है जहाँ सकाम दशरथ और निष्काम विश्वामित्र का मिलन होता है। निष्काम आज सकाम बनकर सकाम से उनके पुत्रों की याचना करता है। दशरथ उदार हैं किन्तु इस सीमा तक नहीं कि पुत्रों को दे सकें। वे अस्वीकृति मुद्रा में कह देते हैं—

सब सुत प्रिय मोहि प्रान की नाईं।
राम देत नहिं बनइ गोसाईं॥

यहीं महर्षि वशिष्ठ की उदात्त भूमिका सामने आती है। वे राजा को स्मरण दिलाते हैं कि पुत्र उन्हें यज्ञ के माध्यम से ही प्राप्त हुए हैं और जब आज यज्ञ ध्वंस किए जा रहे हैं तब उन्हें यज्ञरक्षा के लिए न देना घोर कृतघ्नता होगी—

तब बसिष्ट बहु बिधि समुझावा।
नृप संदेह नास कहँ पावा॥

निष्काम ने जहाँ ईश्वर की प्राप्ति के लिए सकामता स्वीकार की वहाँ सकाम को भी यज्ञरक्षा के लिए उदारतापूर्वक पुत्रों को दे देने की निष्कामता का वरण करना पड़ा। यज्ञ में राक्षसों का विनाश होने के बाद श्रीराम महर्षि विश्वामित्र के साथ जनकपुर जाते हैं जहाँ उनके शब्दों में धनुष यज्ञ हो रहा है—

धनुष जग्य सुनि रघुकुल नाथा।
हरषि चले मुनिबर के साथा॥

यज्ञों की शास्त्रीय परम्परा में 'धनुष यज्ञ' जैसा कोई यज्ञ नहीं है फिर भी महर्षि ने इस नए यज्ञ की कल्पना की। इस तरह यज्ञ की व्यापकता को लेकर गीता और रामचरितमानस दोनों का ही दृष्टिकोण समान है। यज्ञ केवल कर्मकाण्ड की प्रक्रिया नहीं है वह भावना और विचार से प्रेरित जीवन दर्शन है जो व्यक्ति को क्रमशः स्वार्थ से ऊपर उठाता है।

श्री राम ॥ श्री कृष्ण ॥ श्री राम ॥ श्री कृष्ण
कृष्ण ॥ श्री राम ॥ श्री कृष्ण ॥ श्री राम

।।श्री राम।।श्री कृष्ण।।श्री राम।।श्री
।श्री कृष्ण।।श्री राम।।श्री कृष्ण।।श्री

श्रीराम
श्रीकृष्ण
मानस एवं गीता का तुलनात्मक विवेचन
श्रीराम
श्रीकृष्ण